विषय-सूची

पंचम खंड—विनिमय और व्यापार

पहला परिच्छेद—क़ीमत

विनिमय और क़ीमत—पदार्थों का बाज़ार—माँग और पूर्ति—क़ीमत और उत्पादन-व्यय—एकाधिकार में क़ीमत।

पृष्ठ ४११ से ४४० तक

दूसरा परिच्छेद—देशी व्यापार

प्राक्कथन—व्यापार के भेद—देशी व्यापार—व्यापार के मार्ग और साधन—सड़कें—रेलें—रेलों की वर्तमान दशा के दोष—रेलवे-कमेटी की रिपोर्ट—डाक और तार—नदियाँ और नहरें—माल ढोने की उन्नति का प्रभाव—देशी व्यापार के कुछ केंद्र—बंदरगाह और व्यापारिक नगर—व्यापार की वृद्धि और स्वरूप—व्यापारियों का संगठन।

पृष्ठ ४४० से ४९२ तक

तीसरा परिच्छेद—विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—भारत का प्राचीन व्यापार—परिस्थिति में परिवर्तन—व्यापार की वृद्धि—आयात और निर्यात—व्यापार-वृद्धि का स्वरूप—व्यापार वृद्धि का प्रभाव—व्यापार की बाक़ी—बाक़ी का भुगतान—सरकारी हुंडियाँ (Council Bills)—सरकारी हुंडी का भाव—विनिमय की दर—स्थायी दर—अन्तर्राष्ट्रीय सिक्के—सोने की हद से व्यापार—भारतीय जहाज़ों का ह्रास—विदेशी जहाज़—भारतीय जहाज़ी कंपनियाँ और सरकार।

पृष्ठ ४९३ से ५०१ तक

निश्चय—मज़दूरी और आबादी—आधुनिक मज़दूरी की वृद्धि—कम-से-कम मज़दूरी—अशांति के कारण—हड़ताल—श्रमजीवी-संघ—मदरास के मज़दूर-संघ—बंबई के मज़दूर-संघ—अन्य स्थानों में मज़दूर-संघ—अंतर-राष्ट्रीय मज़दूर-कानफ़्रेंस—सरकार और मज़दूर-दल—कांग्रेस का ध्यान—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ ३०६ से ३२४ तक

तीसरा परिच्छेद—सूद

सूद या ब्याज—सूद पर रुपया देने से लाभ—सूद के दो भेद—सूद की दर—पूँजी की मात्रा का प्रभाव—ऋण-दाता—भारतवर्ष में सूद की दर—हिंदू-नियम—ऋण-प्रार्तों की रक्षा।

पृष्ठ ३२४ से ३३१ तक

चौथा परिच्छेद—मुनाफ़ा

मुनाफ़ा—मुनाफ़े के दो भेद—मुनाफ़े के न्यूनाधिक्य के कारण—कृषकों का मुनाफ़ा—कृषि-साहूकार का मुनाफ़ा—शिल्प-साहूकार का मुनाफ़ा—मध्यस्थ का मुनाफ़ा—आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफ़ा—कल-कारख़ानेवालों का मुनाफ़ा—पुस्तक-प्रकाशकों का मुनाफ़ा।

पृष्ठ ३३१ से ३३८ तक

पाँचवाँ परिच्छेद—सामाजिक स्थिति

धन-वितरण और समाज—धन का असमान वितरण और उसका परिणाम—मज़दूरी से पूँजी और राज्य का झगड़ा—समानता का उद्योग—भारतवर्ष की वर्ण-व्यवस्था—धन-वितरण-पद्धति में सुधार।

पृष्ठ ३३९ से ३४२ तक

सातवाँ खंड—भारतीय राजस्व

पहला परिच्छेद—स्थानीय राजस्व

प्राक्कथन—म्युनिसिपैलिटियों और कारपोरेशनों के काम—म्युनि-

पंचम खंड

विनिमय और व्यापार

पहला परिच्छेद

क़ीमत
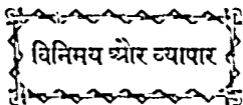
विनिमय और क़ीमत—विनिमय की आवश्यकता इस पुस्तक के प्रथम भाग में बतलाई जा चुकी है। आधुनिक संसार में विनिमय का कार्य तभी होता है, जब पदार्थों की क़ीमत रुपए-पैसे (Money) के रूप में निश्चित हो जाती है। रुपए-पैसे आदि का वर्णन चौथे खंड में कर चुके हैं। अब क़ीमत के संबंध में विचार करना है। किसी वस्तु की क़ीमत का उसके बाज़ार से घनिष्ठ संबंध होता है। अतः इस परिच्छेद में पहले बाज़ार की ही विवेचना करते हैं।

पदार्थों का बाज़ार—अर्थ-शास्त्र में किसी पदार्थ के बाज़ार से उस स्थान का ही अभिप्राय नहीं होता, जिसे हम अपने साधारण बोल-चाल में बाज़ार या मंडी कहते हैं, वरन् उस सारे क्षेत्र से होता है, जिसमें बेचने और ख़रीदनेवालों का ऐसा संबंध हो कि उस क्षेत्र में उस पदार्थ की क़ीमत समान होने की प्रवृत्ति हो। यदि किसी वस्तु का व्यापार संसार के भिन्न-भिन्न देशों में सुगमता-पूर्वक और अल्प व्यय से होता हो, तो उसका बाज़ार तमाम दुनिया हो सकती है। इसे अंतरराष्ट्रीय बाज़ार कहते हैं। बाज़ार-भर में किसी एक वस्तु की क़ीमत समान होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति (Tendency) रहती है। परंतु क़ीमत बिलकुल समान नहीं होने पाती; क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में चीज़ों के ले जाने में ख़र्च पड़ता है। कस्टम, चुंगी या अन्य व्यापारिक कर भी ले ही जाने के ख़र्च में शामिल हैं।

(१) उनके यथेष्ट वर्णन की कठिनाई ।

(२) उनका वज़न और स्थान का परिमाण ।

सबसे कम विस्तृत बाज़ार भूमि का है । मकानों अथवा व्यक्तिगत रुचि के अनुसार बने हुए सामान की भी प्रायः ऐसी ही दशा है ।

माँग और पूर्ति —चीज़ों का मूल्य तभी लगता है, जब (क) उनमें लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने के कुछ गुण हों, और (ख) वे ऐसी हों कि प्रचुर परिमाण में यों ही न मिलें ।

मिहनत से सब चीज़ों की क़ीमत बढ़ती है, पर मिहनत ही क़ीमत का एक-मात्र कारण नहीं । इसका प्रधान कारण चीज़ों को प्राप्त करने की लोक-रुचि, और उनके द्वारा लोगों की आवश्यकताएँ पूरी होने की उनकी योग्यता है । ऐसा न होता, तो हीरे और मामूली पत्थर पर बराबर मिहनत करने के बाद दोनों की क़ीमत भी बराबर हो जाती ।

वस्तुओं की क़ीमत घटती-बढ़ती रहती है । यह उनकी माँग और पूर्ति (Supply) के अधीन है । माँग की अपेक्षा पूर्ति कम होने पर वस्तु के ख़रीददार चढ़ा-ऊपरी करने लगते हैं । जिसे जो चीज़ दरकार होती है, वह यही चाहता है कि औरों को वह मिले या न मिले, पर मुझे मिल जाय । इस चढ़ा-ऊपरी के कारण चीज़ की क़ीमत भी चढ़ जाती है—वह महँगी हो जाती है । इसी तरह वस्तु की माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक होने से उसके बेचनेवाले चढ़ा-ऊपरी करते हैं, और माल की क़ीमत गिर जाती है । इससे यह सिद्ध होता है कि अधिक पूर्ति या कम माँग होने पर क़ीमत कम होती है, और पूर्ति के कम या माँग के अधिक होने पर वह अधिक हो जाती है ।

किसी वस्तु की क़ीमत वही होती है, जिस पर जितनी उसकी माँग हो, और उतनी ही उसी समय उसकी पूर्ति भी हो ।

रहता है। कभी कुछ इधर हो जाता है, तो कभी उधर। भिन्न-भिन्न व्यवसायों में, अपना प्रभाव डालने में, उत्पादन-व्यय को कभी तो अधिक और कभी कम समय लगता है। फलों के बाग़ को ही लीजिए। जब वृक्ष लगाए जा चुके हैं, तो मालिक फ़सल के मौक़े पर उनकी अच्छी-से-अच्छी क़ीमत लेने की कोशिश करता है। एक व्यवसाय में लगी हुई पूँजी को किसी दूसरी जगह लगाने का विचार तुरंत नहीं किया जाता। यदि फल के बाग़ में उत्पादन-व्यय न निकला, तो वह अगली फ़सल में फल के वृक्षों को कम करके, उसमें लगाई गई पूँजी को किसी दूसरी वस्तु में लगाने का विचार करेगा। परंतु यदि लाभ अच्छा हुआ, तो वह अगली फ़सल में ऐसे ही वृक्ष अधिक लगावेगा, और उसकी देखा-देखी दूसरे भी उसी कार्य में अधिक पूँजी लगावेंगे। इस प्रकार यद्यपि कृषि-जन्य पदार्थों की क़ीमत उनकी फ़सल पर ही निर्भर रहती है, तथापि उत्पादन-व्यय अवश्य निकलना चाहिए। अन्यथा, काम न की जा सकेगी।

खान से निकलनेवाले पदार्थ तथा अन्न ऐसी चीज़ें हैं, जिनकी पूर्ति कुछ समय के बाद अवश्य बढ़ाई जा सकती है। इनका निर्णं निश्चित करने में उत्पादन-व्यय का प्रभाव पड़ता है। उसका स्पष्ट रखकर ही माँग तथा पूर्ति की समता से ऐसी चीज़ों का निर्ख निश्चित होता है। उत्पादन में अधिक खर्च करने से इनकी पूर्ति बढ़ सकती है। पर जिस अनुपात से खर्च बढ़ता है, उसी अनुपात से पूर्ति नहीं बढ़ती। यहाँ 'क्रमागत ह्रास-नियम' लागू हो जाता है।

कलों की मदद से जो चीज़ें तैयार होती हैं, उनकी पूर्ति अन्न कुछ आसानी से बढ़ाई जा सकती है। ऐसी चीज़ों की पूर्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उनका की मदद उत्पादन-व्यय कम होता जाता है। ऐसी चीज़ों का निर्ख, माँग तथा पूर्ति की समता से, उत्पादन-व्यय के कुछ इधर या उधर निश्चित होता है।

तक बढ़ाता है, जहाँ तक वह इतनी मात्रा में बिक सके कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इस सीमा के बाद वस्तु की क़ीमत बढ़ाने से उसे उतना लाभ न होगा।

उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि किसी चीज़ की क़ीमत दो आने है, और उसकी माँग १०,००० तथा उत्पादन-व्यय एक आना फ़ी-अदद है, तो एकाधिकारी को १०,००० आने का मुनाफ़ा होगा। अब मान लीजिए कि क़ीमत तीन आने करने पर उसकी माँग ८,००० ही रह जाय, और इसलिये अदद कम तैयार किए जाने की वजह से यदि उसका उत्पादन-व्यय एक आने फ़ी-अदद से बढ़कर सवा आना हो जाय, तो उसका मुनाफ़ा १४ ००० आने होगा। पूरा हिसाब नक्शे में इस प्रकार दिखाया जाता है—

क़ीमत फ़ी-अदद (आने)	माँग	कुल आय (आने)	फ़ी-अदद उत्पादन-व्यय (आने)	कुल उत्पादन-व्यय (आने)	एकाधिकारी का मुनाफ़ा (आने)
२	१०,०००	२०,०००	१	१०,०००	१०,०००
३	८,०००	२४,०००	१·२५	१०,०००	१४,०००
४	६,२००	२४,८००	१·५	९,३००	१५,५००
५	४,६००	२३,०००	१·७५	८,०५०	१४,९५०
६	३,५००	२१,०००	२	७,०००	१४,०००
७	२,०००	१४,०००	२·२५	४,५००	९,५००
८	१,२००	९,६००	२·५०	३,०००	६ ६००

इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि चार आने क़ीमत कर देने पर उसे सबसे ज़्यादा मुनाफ़ा होगा। क़ीमत और अधिक बढ़ाने पर उसका मुनाफ़ा घटने लगेगा। इसलिये वह उसकी क़ीमत चार आने रक्खेगा।

व्यापार का सिद्धांत यह है कि दोनों पक्ष को लाभ हो। जिस चीज़ की ज़रूरत नहीं या कम ज़रूरत है, वही दी जाती और अधिक ज़रूरत की चीज़ ली जाती है। व्यापार में यद्यपि कोई नई चीज़ नहीं पैदा होती, तो भी पदार्थों की उपयोगिता बढ़ जाती है। अतः अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से यह एक उत्पादक कार्य है।

व्यापार के भेद—व्यापार दो तरह का होता है—देशी (Inland) और विदेशी (Foreign)। देशी व्यापार देश की सीमा के भीतर का व्यापार है। विदेश से आनेवाले और विदेश को जानेवाले माल के व्यापार को विदेशी व्यापार कहते हैं।

देशी व्यापार

पहले देशी व्यापार का वर्णन किया जाता है। इसमें निम्न-लिखित प्रकार के कार्य होते हैं—

(क) देश में उत्पन्न या तैयार किए गए पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना या विदेश भेजने के लिये बड़े-बड़े बंदरगाहों पर ले जाना।

(ख) विदेशों से देश के बंदरगाहों में आए हुए माल को देश भर में फैलाना।

(ग) सराफ़ी, आढ़त, दलाली और बीमे आदि के काम। आज-कल सट्टे और जुए का भी व्यापार से इतना घनिष्ठ संबंध हो गया है कि कुछ लोग इनमें और व्यापार में कोई भेद नहीं समझते। ऊपर जिन व्यवसायों का उल्लेख है, उन्हें छोड़कर जो क्रय-विक्रय केवल तेज़ी-मंदी होने की संभावना पर, नफ़ा होने की आशा से, किया जाता है, उसे सट्टा (Speculation) कहते हैं। इसमें बेचे तथा ख़रीदे गए माल का लेन-देन होता है। इसके अतिरिक्त जो केवल बेशुमार लाभ होने की आशा से, क़िस्मत के भरोसे, किया जाता है,

का प्रसार है। जब से रेल की लाइनें खुलीं, तब से देश-व्यापी सड़कों की आवश्यकता कम समझी जाने लगी। सरकार ने अब सड़कों का काम अधिकांश में ज़िले के बोर्ड या म्युनिसिपैलिटियों के हाथ में दे दिया है। इनका ध्यान अपने ही इलाक़े-भर में रहता है, बाहर नहीं। ज़िले के अंदर भी सदर मुक़ाम और सब-डिवीज़न के केंद्र के बीच की, अफ़सरों के दौरे की सुविधा बनाए रखने के लिये, सड़कें तो अच्छी हालत में रक्खी जाती हैं, किंतु दूसरे रास्तों पर कृपा-दृष्टि नहीं की-जाती। उचित तो यह है कि प्रधान-प्रधान मंडियों को केंद्र बनाकर इलाक़े-भर में लंबी, चौड़ी और पक्की सड़कें बनवा दी जायँ, और उनके द्वारा मंडियों से गाँव-गाँव का संबंध करा दिया जाय, एवं बीच की नदियों पर पुल बाँध दिए जायँ। इससे देशी व्यापार की बहुत वृद्धि होगी। किंतु वैसा नहीं है।

रेलें—आधुनिक व्यापार-वृद्धि में रेलों से बड़ी सहायता मिल रही है। इनका काम यहाँ सन् १८५३ में आरंभ हुआ।

भारतवर्ष में ३१ मार्च, १९२४ को कुल ३८,२७० मील रेल थी। इसमें से १९,४१४ मील भारत-सरकार की निज की संपत्ति थी। इसका वह स्वयं प्रबंध करती है। शेष में ११,६११ मील सरकार की संपत्ति तो थी; पर उसका प्रबंध कंपनियों के हाथ में है। शेष रेलों में कुछ डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों या देशी राज्यों की थीं। ख़ास कंपनियों की रेलें बहुत कम हैं। प्रबंधकारिणी कंपनियाँ, शर्तनामे के अनुसार, कुछ मुनाफ़ा पाती हैं। बाक़ी सब मुनाफ़ा सरकार को मिलता है।

रेलें चार तरह की हैं—

(१) स्टैंडर्ड माप की—अर्थात् साढ़े पाँच फ़ीट चौड़ी

(२) मीटर माप की—अर्थात् ३·२८ फ़ीट चौड़ी

(३) छोटे माप की—अर्थात् ढाई फ़ीट चौड़ी

(४) छोटी लाइन—अर्थात् दो फ़ीट चौड़ी

गई पंजाब से सूरत भेजनी होती थी, तो पहले मैं बंबई को रवाना करता था, और फिर बंबई से लौटाकर सूरत को ; क्योंकि पंजाब से सीधे सूरत भेजने में बहुत अधिक ख़र्च लगता था।

(४) कच्चे माल के निर्यात को जैसी उत्तेजना दी जाती है, वैसी तैयार माल के निर्यात को नहीं। उदाहरणार्थ, तेलहन की अपेक्षा तेल बाहर भेजने में किराया बहुत अधिक देना पड़ता है।

(५) रेलवे-कंपनियों के स्वार्थ अलग-अलग हैं, और प्रबंध भी पृथक् पृथक्। इसलिये वे सब अपना-अपना लाभ देखती हैं, देश के लाभ का उन्हें ध्यान नहीं। यदि सबका स्वार्थ और प्रबंध एक हो हो, तो व्यापारियों की असुविधाएँ कम हो जायँ।

(६) लगभग ९६ फ़ी-सैकड़े यात्री तीसरे दर्जे में सफ़र करते हैं। उन्हीं से अधिक आय भी होती है। परन्तु विदेशी कंपनियाँ और सरकार उनके आराम की कुछ पर्वा नहीं करतीं।

(७) जब रेलें खुलीं, तो बड़े-बड़े शहरों और व्यापार की मंडियों से होती हुई गईं। उस समय देश के भीतरी भागों का ध्यान नहीं रक्खा गया। सड़कों और नदियों के पुलों का भी सुधार नहीं हुआ। पीछे ब्रांच (शाखा)-लाइनें खुलने लगीं। पर उनमें यथेष्ट वृद्धि नहीं हुई। इसलिये सब धंधे घने शहरों में ही इकट्ठे होते गए।

(८) रेलों की माप भिन्न-भिन्न है। इसलिये जब माल को एक लाइन से उतारकर दूसरी लाइन पर लादना पड़ता है, तो किराए में व्यर्थ ही वृद्धि हो जाती है। साथ ही टूटने और चोरी जाने की जोखिम भी बढ़ जाती है।

(९) इस देश में रेलवे-लाइनें बरसों से खुली हुई हैं; किंतु रेलों का अधिकांश सामान अभी विदेशों ही से आता है। उचित तो यह है कि रेलों के डिब्बे आदि सब सामान यहीं तैयार कराया जाय, और उसके लिये करोड़ों रुपया विदेश न भेजा जाय।

रेलवे-प्रबंध के संबंध में कमेटी के सदस्यों में मत-भेद हो गया है। यह तो सब सदस्य स्वीकार करते हैं कि इँगलैंड की कंपनियों द्वारा प्रबंध होना अनुचित है। परंतु पाँच का मत है कि जब कंपनियों के ठेकों की अवधि * समाप्त हो जाय, तब सरकार उनका प्रबंध अपने हाथ में ले ले। अन्य पाँच सदस्यों का यह कहना है कि अवधि समाप्त होने पर सरकार रेलों का प्रबंध विदेशी कंपनियों से छुड़ाकर नई भारतीय कंपनियों को सौंप दे। यदि यह प्रबंध सफल हो, तो आज-कल जिन रेलों का प्रबंध सरकार स्वयं करती है, उनको भी भारतीय कंपनियों के हाथ में सौंप देने के प्रश्न पर विचार किया जाय।

गत फ़रवरी, सन् १६२३ ई० में इस विषय पर यहाँ भारतीय व्यवस्थापक सभा में ख़ूब बहस हुई। अंत को यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि ईस्ट-इंडियन और जी० आई० पी०-रेलों को सरकार, अवधि के बाद, कंपनियों के हाथ से निकालकर अपने प्रबंध में ले ले। इस निश्चय के अनुसार ये रेलें सन् १६२५ ई० में सरकारी प्रबंध में ले ली गईं।

जिस समय तक सरकार भारतीय जनता के प्रति पूर्णरूप से उत्तरदायी नहीं है, उस समय तक रेलों का प्रबंध उसके द्वारा किए जाने से हमें कुछ अधिक लाभ नहीं मालूम होता। अतः रेलों का प्रबंध भारतीय कंपनियों के ही हाथों में होना उचित है।

---

* मुख्य-मुख्य रेलवे कंपनियों के ठेकों की अवधि भिन्न-भिन्न वर्षों में

...दराम और मदर्न मराठा-
...रदुन इंडियाजेलेर, सन्
५ ई० । बंगाल-नागपुर-

काल के बहुत-से बंदरगाह अब व्यापार के लिये उपयोगी नहीं रहे हैं।

देश में कुछ नगर व्यापारिक केंद्र हैं। यहाँ से माल भिन्न-भिन्न स्थानों में पहुँचता है। संयुक्तप्रांत में कानपुर और लखनऊ, पंजाब में लाहौर, दिल्ली-प्रांत में दिल्ली और मध्य-प्रांत में नागपुर प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र हैं।

व्यापार की वृद्धि और स्वरूप*—जिस समय ईस्ट इंडिया-कंपनी ने भारत का राज्य-भार लिया, उस समय भारत के देशी व्यापार की दशा शोचनीय थी। सड़कें ख़राब थीं, राजनीतिक उथल-पुथल और अशांति के कारण चोरी तथा ठगी का बहुत डर था। लोग अपनी ज़रूरत की चीज़ें अपने गाँवों में ही पैदा कर लेते, बना और बेच लेते थे। यदि कुछ कमी रही, तो वह आस-पास के 'हाटों' या 'मेलों' में पूरी कर ली जाती थी। बाहरी दुनिया से उनका बहुत कम संबंध रहता था।

शांति स्थापित होने, चोरी और डकैती का भय दूर होने तथा सड़कें और रेल की लाइनें खुलने से व्यापार में बहुत वृद्धि हुई है। साथ ही पुराने बाज़ारों और मंडियों की प्रधानता जाती रही है। रेलवे लाइनों के किनारे नए नगर बस गए। अब बंदरगाहों की उन्नति हो रही है; क्योंकि देश का माल यहाँ से विदेशों को रवाना होता है, और विदेशी माल यहाँ से अंदर देश-भर में फैल जाता है।

इस व्यापार की बागडोर बड़ी-बड़ी एजेंसी-कंपनियों के हाथ में है। इनके प्रधान ऑफ़िस तो प्रायः विदेश में हैं, लेकिन प्रधान शाखाएँ यहाँ के बड़े-बड़े बंदरगाहों में हैं। कभी-कभी मुफ़स्सिल

---

* 'भारत की आर्थिक समस्याएँ' के आधार पर।

भारत के व्यापार का रुख बंदरगाहों की ओर फिरा हुआ है। देहातों का बचा हुआ माल रेल-किनारे के बाज़ारों में पहुँचता है। वहाँ से वह या तो दूसरे बाज़ारों में या बंदरगाहों पर जाता है। बंदरगाहों में आने के दो अभिप्राय हैं—एक तो जहाज़ों द्वारा उसका विदेश जाना या एक बंदरगाह से दूसरे बंदरगाह को रवाना होना; दूसरे, उन बंदरगाहों की मिलों में उससे तैयार माल बनना। इस प्रकार देशी व्यापार का, बहुत अंशों में, इन्हीं बंदरगाहों से संबंध है।

व्यापारियों का संगठन—अपने हितों और स्वार्थों की रक्षा के लिये व्यापारियों को भी संगठित होने की आवश्यकता है। योरपियन व्यापारियों ने संगठन का महत्त्व जानकर अपनी संस्थाएँ—चेंबर आफ् कामर्स (Chamber of Commerce) और ट्रेड-एसोसिएशन (Trade Association)—क़ायम कर रक्खी हैं। भारतीय व्यापारियों ने भी जहाँ-तहाँ अपनी संस्थाएँ स्थापित की हैं; परंतु उनमें यथेष्ट शक्ति नहीं है। इसलिये उन्हें रेलवे-कंपनियों और माल भेजने का लाइसेंस देनेवाले अधिकारियों के हाथों तरह-तरह के अन्याय और कष्ट सहन करने पड़ते हैं। तथापि भारतीय व्यापारियों का संगठन इस कार्य को आगे अवश्य बढ़ा सकता है।

अस्तु, भारतवर्ष में एक ऐसी केंद्रीय संस्था की बड़ी आवश्यकता है, जो अपनी प्रांतीय शाखाओं द्वारा समस्त भारतवर्ष के उद्योग-धंधों की वैसी ही रक्षा और उन्नति करे, जैसी अन्य देशों की संस्थाएँ अपने-अपने देश में करती है।

(७० लाख रुपए) का सोना और चाँदी रोम से प्रतिवर्ष भारतवर्ष को जाता है।

आठवीं शताब्दी से क्रमशः तुर्कों का बल बढ़ा, यहाँ तक कि सन् १४५३ ई० में कुस्तुनतुनिया उनके हाथ आ गया। फिर धीरे-धीरे भूमध्य-सागर और मिस्र पर भी इनका अधिकार हो जाने के कारण, योरपवालों को इस रास्ते से व्यापार करके मनमाना लाभ उठाने में बाधा पड़ने लगी। अंततः सन् १४९८ ई० में पुर्तगालवालों ने "उत्तम आशा"-अंतरीप (Cape of Good Hope) के रास्ते, अफ्रीका के गिर्द होकर, भारतवर्ष आने का रास्ता ढूँढ निकाला, और पूर्वी व्यापार पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे हालैंड, इँगलैंड और फ्रांसवालों ने भी अपनी-अपनी कंपनियाँ खोलीं। इन सबमें खूब लड़ाई-झगड़े होते रहे। अंत को अँगरेज़ों की जीत हुई। उन दिनों सड़कें, बंदरगाह, माल ढोने के साधन आदि उन्नत अवस्था में नहीं थे। सफ़र लंबा था, ख़र्च बहुत पड़ता था। तो भी भारत का व्यापार (अधिकांश शिल्पीय) कम लाभदायक नहीं था। सन् १६८२ ई० में ईस्ट इंडिया-कंपनी ने १२० प्रति-सैकड़े का मुनाफ़ा बाँटा था।

परिस्थिति में परिवर्तन—मध्य-काल के अंधकार-युग में इस देश के आंतरिक कलह, फूट और आलस्य ने क्रमशः इसके आर्थिक महत्त्व का नाश कर दिया। तथापि मुग़ल-शासन के अधिकांश समय तक यहाँ के कृषक और कारीगर सुख ही की नींद सोते रहे। बादशाहों की सुरुचि तथा शौक़ीनी के कारण इस देश का कला-कौशल और शिल्प विदेशों के लिये आदर्श बना रहा। सत्रहवीं नहीं, अठारहवीं शताब्दी में भी इस देश के बने हुए ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रों तथा खाँड, रंग, मसाले आदि अन्य द्रव्यों के लिये सारा योरप लालायित रहता था।

सन्	वार्षिक औसत आयात (करोड़ रुपया)	वार्षिक औसत निर्यात (करोड़ रुपया)	कुल व्यापार (वार्षिक औसत)
१८३५-४४	९·७२	१३.७४	२३·४६
१८४५-५४	१४·०६	१८·७६	३२·८२
१८५५-६४	३७·४३	३९·४४	७६·८७
१८६५-७४	४४·७९	५६·६१	१०१·४०
१८७५-८४	५०·५४	७४·५०	१२५·०५
१८८५-९४	८३·२७	१०२·६६	१८५·९३
१८९५-१९०४	१०५·७१	१३०·९६	२३६·६७
१९०४-५	१४३·९२	१७४·२६	३१८·१८
१९०५-६	१४३·७६	१७७·३१	३२१·०७
१९०६-७	१६१·८८	१८२·७५	३४४·६३
१९०७-८	१७८·९३	१८२·९३	३६१·८६
१९०८-९	१५१·५३	१५९·४६	३१० ९९
१९०९-१०	१६०·१७	१९४·३६	३५४·५३
१९१०-११	१७३·४४	२१७.०९	३९०·५३
१९११-१२	१९७·५३	२३८·३६	४३५·८९
१९१२-१३	२२८·४६	२५६·८५	४८५·३१
१९१३-१४	२३४·७५	२५६ ०९	४९०·८४
१९१४-१५	१६६·७४	१८७.४०	३५४·२१
१९१५ १६	१५०·१२	२०७ ७९	३५७·९१
१९१६ १७	१९८·७०	२५३·७८	४५२·४८
१९१७-१८	२१६·१२	२५२·४५	४६८·५७
१९१८-१९	२५९·९३	२६४·३३	५२४.२६
१९१९-२०	२९९·९४	३४६·४४	६४६.३८
१९२०-२१	३३८·९८	२३४·३०	५७२.९८
१९२१-२२	२६६·३५	२४५·४४	५११·७९
१९२२-२३	२३२·७१	३१४·३१	५४७·०२
१९२३-२४	२२७·६३	३६१·६७	५८९·३०

उपर्युक्त अंकों में सरकार के स्टोर्स आदि के सामान का मूल्य भी सम्मिलित है।

उपर्युक्त कोष्टक में आयात की क़ीमत, कुल आयात की क़ीमत से पुनर्निर्यात की क़ीमत घटाकर, रक्खी गई है।

साधारणतः तैयार माल की क़ीमत हमारे आयात की क़ीमत की सत्तर-अस्सी फ़ी-सदी होती है, जिसमें से लगभग ३० फ़ी-सदी रुई के कपड़े तथा सूत की, ८ फ़ी-सदी लोहे के सामान की, ६-७ फ़ी-सदी विविध यंत्रों की, ४ फ़ी-सदी रेल के सामान की, ३ फ़ी-सदी धातु इत्यादि की चीज़ों की और शेष अन्य विविध पदार्थों की होती है। तैयार मालों को छोड़कर चीनी ही अधिक क़ीमत की आती है।

हमारे निर्यात की क़ीमत में ४०-५० फ़ी-सदी कच्चे पदार्थों, रुई, जूट, तेलहन और चमड़े की क़ीमत होती है। तैयार माल (प्रधानतः जूट तथा कुछ रुई के वस्त्र इत्यादि) की क़ीमत लगभग २१ और भोज्य तथा पेय पदार्थों एवं तैयार की क़ीमत लगभग ३० फ़ी-सदी होती है।

साधारणतः खाद्य पदार्थों में बहुत-सा चावल और गेहूँ बाहर भेजा जाता है। निर्यात-चावल की मात्रा कुल फ़सल में सैकड़े पीछे ७ और गेहूँ की सैकड़े पीछे १० होती है। जौ भी काफ़ी मात्रा में बाहर जाता है। इधर कुछ वर्षों से कपास की फ़सल का लगभग आधा भाग बाहर चला जाता है। भिन्न-भिन्न तेलहनों के निर्यात का अनुपात भिन्न-भिन्न है। उदाहरण-स्वरूप तिल तो प्रधानतः बाहर भेजने के लिये ही पैदा किया जाता है। किंतु मूँगफली, राई और अलसी की कुल फ़सल का प्रायः १० फ़ी-सदी से अधिक हिस्सा बाहर नहीं जाता। जूट के उद्योग-धंधों की यहाँ उन्नति होती जाने के कारण कच्चे जूट का बाहर भेजा जाना कम हो रहा है। तथापि वह अब भी बड़ी मात्रा में, कुल फ़सल का लगभग अर्द्धांश तक, बाहर भेजा जाता है। संसार के बाज़ारों में जितनी लाख बिकती है, उसमें ४० फ़ी सैकड़ा भारत में ही उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त कोष्टक में आयात की क़ीमत, कुल आयात की क़ीमत से पुनर्निर्यात की क़ीमत घटाकर, रक्खी गई है।

साधारणतः तैयार माल की क़ीमत हमारे आयात की क़ीमत की सत्तर-अस्सी फ़ी-सदी होती है, जिसमें से लगभग ३० फ़ी-सदी रुई के कपड़े तथा सूत की, ८ फ़ी-सदी लोहे के सामान की, ६-७ फ़ी-सदी विविध यंत्रों की, ४ फ़ी-सदी रेल के सामान की, ३ फ़ी-सदी धातु इत्यादि की चीज़ों की और शेष अन्य विविध पदार्थों की होती है। तैयार मालों को छोड़कर चीनी ही अधिक क़ीमत की आती है।

हमारे निर्यात की क़ीमत में ४०-५० फ़ी-सदी कच्चे पदार्थों, रुई, जूट, तेलहन और चमड़े की क़ीमत होती है। तैयार माल (प्रधानतः जूट तथा कुछ रुई के वस्त्र इत्यादि) की क़ीमत लगभग २२ और भोज्य तथा पेय पदार्थों एवं तंबाकू की क़ीमत लगभग ३० फ़ी-सदी होती है।

साधारणतः खाद्य पदार्थों में बहुत-सा चावल और गेहूँ बाहर भेजा जाता है। निर्यात-चावल की मात्रा कुल फ़सल में सैकड़े पीछे ७ और गेहूँ की सैकड़े पीछे १० होती है। जौ भी काफ़ी मात्रा में बाहर जाता है। इधर कुछ वर्षों से कपास की फ़सल का लगभग आधा भाग बाहर चला जाता है। भिन्न-भिन्न तेलहनों के निर्यात का अनुपात भिन्न-भिन्न है। उदाहरण-स्वरूप तिल तो प्रधानतः बाहर भेजने के लिये ही पैदा किया जाता है। किंतु मूँगफली, राई और अलसी की कुल फ़सल का प्रायः २० फ़ी-सदी से अधिक हिस्सा बाहर नहीं जाता। जूट के उद्योग-धंधों की यहाँ उन्नति होती जाने के कारण कच्चे जूट का बाहर भेजा जाना कम हो रहा है; तथापि वह अब भी बड़ी मात्रा में, कुल फ़सल का लगभग अर्द्धांश तक, बाहर भेजा जाता है। संसार के बाज़ारों में जितनी चा बिकती है, उसमें ४० फ़ी सैकड़ा भारत में ही उत्पन्न होती है।

आ रहा है। अब हम यह बतलावेंगे कि इस व्यापार-वृद्धि का स्वरूप क्या है।

(१) पहले भारतवर्ष से खाँड़, नील, दुशाले, मलमल आदि तैयार माल विदेशों को जाता था; किंतु अब अन्न या रुई, सन, तेलहन आदि कच्चे माल का, जिसकी विदेशी कारख़ानों को आवश्यकता है, निर्यात बढ़ रहा है। विदेशों से आनेवाला माल प्रायः वही है, जो पहले यहाँ से बाहर जाता था, अथवा मोटरगाड़ी, साइकिल आदि नई वस्तुएँ हैं।

(२) भारतवर्ष का निर्यात आयात की अपेक्षा बहुत अधिक क़ीमत का होता है।

(३) हमारे निर्यात और आयात की क़ीमत में जो अंतर होता है, उसकी अपेक्षा हमारे व्यापार की बाक़ी की रक़म बहुत कम होती है। (इसका कारण आगे बतलाया जायगा।) यह व्यापार की बाक़ी क़ीमती धातुओं के स्वरूप में आती है, जिसकी मात्रा बहुत मालूम पड़ने पर भी भारतीय जन-संख्या की दृष्टि से बहुत कम होती है।

(४) हमारे आयात का लगभग ६१ फ़ी-सदी हिस्सा इँगलैंड से आता है, जो हमारे निर्यात का केवल २५ फ़ी-सदी हिस्सा ही लेता है।

(५) व्यापार का नफ़ा, जहाज़ का किराया तथा बीमे और साहूकारी आदि की आमदनी अधिकतर योरपियनों को मिलती है।

व्यापार वृद्धि का प्रभाव—विशेषतः गत पचास वर्षों में विदेशी माल अधिकाधिक मँगाने और विनिमय में उससे भी अधिक कच्चे माल की निकासी करते रहने का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय जनता को इस बात की और ज़्यादा ज़रूरत पड़ती आ रही है कि वह खेती पर अपना निर्वाह करे।

मँगाते। इससे हमारी बाक़ी इँगलैंड के व्यापारियों के नाम निकलती है। परंतु होम-चार्जेज़ आदि के लिये हमें प्रतिवर्ष बहुत-सा रुपया भारत-मंत्री को देना पड़ता है। भारत-मंत्री, इँगलैंड में, वहाँ के व्यापारियों के हाथ भारत-सरकार के नाम की हुंडियाँ या कौंसिल-बिल बेचकर, हमारा रुपया जमा कर लेते हैं। जो लोग ये हुंडियाँ ख़रीदते हैं, वे उन्हें यहाँ भेज देते हैं, और यहाँ के व्यापारी सरकार या बैंकों से हुंडियों का रुपया वसूल कर लेते हैं। इस प्रकार इँगलैंड के व्यापारी भारतीय व्यापारियों को और भारत-सरकार भारत-मंत्री को बहुत सा नक़दी भेजने की असुविधा और जोखिम से बच जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि फ़सल अच्छी न होने आदि के कारण जब यहाँ से इँगलैंड को माल कम जाता है, तो हमें रुपया इँगलैंड को देना पड़ता है। इस दशा में भारत-सरकार हुंडियाँ बेचती है और व्यापारियों से रुपया लेती है। भारतीय व्यापारी भारत-सरकार से हुंडी ख़रीदकर, उन्हें इँगलैंड के व्यापारियों के पास भेज देते हैं, और इँगलैंड के व्यापारी उन हुंडियों के बदले भारत-मंत्री से सावरेन (पौंड) ले लेते हैं।

भारत-मंत्री और भारत-सरकार, जल्दी भुगतान करने के लिये, तार द्वारा भी व्यापारियों का काम कर देती है। इसमें ख़र्च कुछ अधिक होता है।

सरकारी हुंडी का भाव—जब विलायत के व्यापारियों को यहाँ अधिक भुगतान करना होता है, तो सरकारी हुंडी की माँग बढ़ जाती है, अर्थात् अँगरेज़ी-सिक्के के हिसाब से भारतीय सिक्के का मोल बढ़ जाता है। या यों कह सकते हैं कि हमारे विनिमय का भाव चढ़ जाता है। यह भाव इसी क़दर बढ़ सकता है कि इँगलैंड के व्यापारियों को नक़द रुपए भेजने की अपेक्षा हुंडी द्वारा भेजने

संबंधी नियम जान लेना आवश्यक है । हिसाब लगाने से मालूम होता है कि पौंड की फ्रैंक में टकसाली दर २५·२२ है । इसी प्रकार अन्य मुख्य-मुख्य देशों की टकसाली दर नीचे-लिखे अनुसार है—

इँगलैंड और जर्मनी		एक पौंड=२०.४३ मार्क
,,	,, आस्ट्रिया	एक पौंड= २४.०२ क्राउन
,,	,, अमेरिका	एक पौंड= ४.८७ डालर
,,	,, रूस	एक पौंड=१४.६७ रूबल

[1] उपर्युक्त टकसाली दरें बदलती नहीं हैं, क्योंकि वे तो सिक्कों के असली सोने का पारिमाणिक संबंध-मात्र हैं । परंतु ऐसी परिस्थिति-वाले देशों में टकसाली दर, जिनमें एक का स्टैंडर्ड-सिक्का तो सोने का और दूसरे का चाँदी का हो, हमेशा बदलती रहती है । कारण, चाँदी की सोने में क़ीमत बदलती रहती है । यही दशा भारत में सन् १८६३ ई० के पहले थी । हमारा स्टैंडर्ड-सिक्का रुपया चाँदी का था, और इँगलैंड तथा अन्य देशों का सोने का। अतएव जैसे-जैसे चाँदी की सोने में क़ीमत बदली, वैसे-वैसे भारत की टकसाली दर भी बदलती गई । परंतु अब तो भारत में कोई स्टैंडर्ड-सिक्का है ही नहीं । रुपए की बाज़ारू क़ीमत, उसमें जो चाँदी है, उसकी क़ीमत से अधिक है । इसलिये अब भारत और अन्य देशों के बीच में कोई टकसाली दर नहीं हो सकती । भारत-सरकार ने क़ानून बनाकर पहले रुपए की दर एक शिलिंग चार पेंस नियत की थी, और इधर सन् १६२० ई० से एक रुपया दो शिलिंग के बराबर मान रक्खा है ।

अंतरराष्ट्रीय सिक्के—इस समय भिन्न-भिन्न देशों में और कहीं-कहीं एक ही देश के विविध भागों में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित हैं । हरएक को अपने अपने सिक्के का अभिमान है । इससे बड़ी असुविधा होती है । यदि संसार-भर में एक सिक्के का चलन हो, तो निम्न-लिखित कई लाभ हों—

पारिक संबंध है। सबसे अधिक व्यापार नेपाल से होता है। उसके बाद क्रमशः शान-राज्य और अफ़ग़ानिस्तान का नंबर है। नेपाल से विशेष कर चावल, तेलहन, घी, घास, गऊ, बैल, भेड़, बकरे आते हैं, और बदले में कपड़ा, चीनी, नमक, धातु के बर्तन इत्यादि जाया करते हैं। शान-राज्यों से घोड़े, टट्टू और ख़च्चर, श्याम और करीनी से लकड़ी, तिब्बत से पशम और ऊन तथा अफ़ग़ानिस्तान से ऊन और फल इत्यादि सामान आते हैं, और बदले में सूती कपड़ा, चा, चीनी, नमक, मसाला, धातु के बर्तन आदि जाया करते हैं।

काश्मीर और शान-राज्यों के साथ जो भारतवर्ष का व्यापार होता है, उसे वास्तव में विदेशी व्यापार नहीं कह सकते। परंतु सरकारी रिपोर्ट में इसका हिसाब विदेशी व्यापार में ही दिया जाता है।

भारतीय जहाज़ों का ह्रास *—अपनी वस्तुओं को विदेशों में ले जाने और विदेशी माल लाने के लिये उन्नत देश अपने ही जहाज़ों का उपयोग करते हैं। प्राचीन काल में समृद्धिशाली व्यापारी-वर्ग के उत्साह तथा शक्ति, केवटों की कुशलता तथा साहस और पोत-निर्माण एवं सामुद्रिक व्यापार की ग़ज़ब की उन्नति के कारण ही भारत सैकड़ों वर्षों तक पूर्व के समुद्रों पर प्रभुत्व बनाए रहा।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि सन् १८४० ई० से यहाँ जहाज़ बनाने के उद्योग का नाश होने लगा। उसके बाद एक भी बड़ा जहाज़ नहीं बनाया गया। भारत का राज्याधिकार कंपनी के हाथ से निकलकर इँगलैंड के बादशाह के हाथ में चले जाने के थोड़े ही समय बाद, अर्थात् सन् १८६३ में, यह काम बिलकुल बंद कर दिया गया। इसका कारण यह था कि भारतीय जहाज़ों पर भारतवासियों को ही नौकर रखना पड़ता था। इस बात को 'देश-भक्त' अँगरेज़ सहन न कर सके। उन्होंने अपना रोज़गार चौपट होते

* भारत-दर्शन" के आधार पर।

देश	१९१३-१४ (महायुद्धके पूर्व)	१९१९-२०	१९२२-२३ *
	जहाज़ों की संख्या	जहाज़ों की संख्या	जहाज़ों की संख्या का कुल संख्यासे अनुपात फी सैकड़ा
ब्रिटिश	४,६६१	४,३४०	७४.२
ब्रिटिश-इंडिया	५८३	५४२	३.३
जापान	१६१	४०६	५.८
अमेरिका	—	८६	२.७
हालैंड	१३१	७२	१.१
इटली	७३	८५	१.१
नार्वे	८०	१०४	१.१
स्वीडन	१३	३०	.३
फ्रांस	१०	३८	.२
चीन	—	२०	.०४
यूनान	२६	१२	.१
रूस	४४	१८	—
जर्मनी	५५६	—	१.६
स्पेन	—	१२	.२
आस्ट्रिया-हंगरी	२८५	—	—
अन्य राष्ट्र	४	२५	.६६
देशी नौकाएँ			.८
योग	६,६२०	५,७६६	१००

* इस वर्ष कुल जहाजों की संख्या ७,५१६ थी।

मुक्त-द्वार-व्यापार होने की दशा में देश के व्यापारी विदेशी व्यापारियों से प्रतियोगिता करते हैं। इससे उनमें अपना माल सस्ता तैयार करने की शक्ति और योग्यता आ जाती है। संरक्षण-नीति में यह बात नहीं होने पाती। पुनः प्रकृति ने प्रत्येक देश को सभी आवश्यक सामग्री नहीं प्रदान की है, इसलिये यदि हम अन्य देशों से आनेवाले माल पर अधिक कर लगावेंगे, तो दूसरे देशवाले अपने यहाँ आनेवाले हमारे माल पर वैसा ही कर लगाकर हमसे बदला भी लेंगे। इससे हमारा-उनका आपस में तनातनी रहेगी।

इन नीतियों का व्यवहार—ये बातें तो केवल सिद्धांत की हैं। वास्तव में प्रत्येक देश अपनी व्यापार-नीति, अपनी परिस्थिति के अनुसार स्थिर करता है, और उसे आवश्यकतानुसार बदलता भी है। योरप के जो बहुत-से राष्ट्र अब मुक्त-द्वार-व्यापार की प्रशंसा कर रहे हैं, वे ही कुछ समय पहले तक अपने व्यापार की संरक्षण-नीति से रक्षा कर रहे थे। महायुद्ध के समय से एक बार फिर उन्होंने संरक्षण-नीति से ही लाभ उठाया है।

अमेरिका के समृद्धिशाली होने की बात कौन नहीं जानता? योरप के प्रायः सब बड़े राष्ट्र उसके कर्ज़दार हैं। फिर भी वह विदेशी माल को अपने यहाँ बे रोक-टोक नहीं आने देता। सितंबर, १९२२ ई० में उसने टैरिफ-बिल पासकर दिया है, जिससे उसने आयात पर १० से लेकर ४० सैकड़े तक कर बढ़ाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। इसके सिवा वह अपने यहाँ स्थापित और रजिस्ट्री-शुदा व्यापारिक कंपनियों को, विदेशों में माल ले जाने के लिये, बहुत ही सस्ते दाम पर जहाज़ देता है। फिर जिस जहाज़ से जितना माल जाता है, उसे उसी अनुपात में बहुत इनाम भी मिलता है। ये सहायताएँ देने के लिये वहाँ की क़ानून-सभा में, गत वर्ष कर्ज़ १०

ख़ैर, गत २१ सितंबर, सन् १६२२ ई० को कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। पाँच योरपियन तथा दो हिंदोस्तानी मेंबरों की बहुमत रिपोर्ट अलग है, और शेष पाँच भारतीय सदस्यों की (जिनमें अध्यक्ष महोदय भी हैं) अल्पमत रिपोर्ट पृथक् है।

संरक्षण की आवश्यकता—समस्त—अल्पमत और बहुमत—कमीशन का मत है कि भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति, उसके आकार, जन-संख्या तथा प्राकृतिक साधनों के अनुसार संतोष-जनक नहीं हुई। भारत ही के उद्योग-धंधों की उन्नति से भारत को विशेष लाभ हो सकता है। औद्योगिक उन्नति शीघ्र हो, इसके लिये समय अनुकूल है; पर संरक्षण-नीति का आश्रय लिए विना शीघ्र उन्नति न हो सकेगी।

व्यवहार-विधि में मत-भेद—परंतु संरक्षण-नीति का व्यवहार किस प्रकार किया जाय, इस विषय में मत-भेद है। बहुमतवालों की सिफ़ारिश है कि भारत की औद्योगिक उन्नति के लिये, उनकी रिपोर्ट में बताए गए नियम के अनुसार, उद्योग-धंधों पर चुन-चुनकर अथवा सोच-समझकर रक्षण-कर बैठाया जाय। साथ ही इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि इसमें जनता को अधिक कर का बोझ न उठाना पड़े।

किंतु अल्पमतवाले सज्जनों ने बहुमत की यह बात नामंज़ूर की है। उनका कथन है कि संरक्षण-मार्ग की ये बाधाएँ व्यर्थ हैं। औद्योगिक उन्नति के लिये आरंभ में आयात-वस्तुओं पर इतना अधिक महसूल लगाया जाय कि विदेशी माल सस्ता न बिक सके। अल्प-मत शराब, तंबाकू तथा अन्यान्य विलास की वस्तुओं को छोड़कर देश में बननेवाले अन्य किसी माल पर कर बैठाने के पक्ष में नहीं है।

कहना नहीं होगा कि अल्पमत ही भारतीय नेताओं का मत है,

ख़ैर, गत २१ सितंबर, सन् १९२२ ई० को कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। पाँच योरपियन तथा दो हिंदोस्तानी मेंबरों की बहुमत रिपोर्ट अलग है, और शेष पाँच भारतीय सदस्यों की (जिनमें अध्यक्ष महोदय भी हैं) अल्पमत रिपोर्ट पृथक् है।

संरक्षण की आवश्यकता—समस्त—अल्पमत और बहुमत—कमीशन का मत है कि भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति, उसके आकार, जन-संख्या तथा प्राकृतिक साधनों के अनुसार संतोषजनक नहीं हुई। भारत ही के उद्योग-धंधों की उन्नति से भारत को विशेष लाभ हो सकता है। औद्योगिक उन्नति शीघ्र हो, इसके लिये समय अनुकूल है; पर संरक्षण-नीति का आश्रय लिए बिना शीघ्र उन्नति न हो सकेगी।

व्यवहार-विधि में मत-भेद—परंतु संरक्षण-नीति का व्यवहार किस प्रकार किया जाय, इस विषय में मत-भेद है। बहुमतवालों की सिफ़ारिश है कि भारत की औद्योगिक उन्नति के लिये, उनकी रिपोर्ट में बताए गए नियम के अनुसार, उद्योग-धंधों पर चुन-चुनकर अथवा सोच-समझकर रक्षण-कर बैठाया जाय। साथ ही इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि इसमें जनता को अधिक कर का बोझ न उठाना पड़े।

किंतु अल्पमतवाले सज्जनों ने बहुमत की यह बात नामंज़ूर की है। उनका कथन है कि संरक्षण-मार्ग की ये बाधाएँ व्यर्थ हैं। औद्योगिक उन्नति के लिये आरंभ में आयात-वस्तुओं पर इतना अधिक महसूल लगाया जाय कि विदेशी माल सस्ता न बिक सके। अल्प-मत शराब, तंबाकू तथा अन्यान्य विलास की वस्तुओं को छोड़कर देश में बननेवाले अन्य किसी माल पर कर बैठाने के पक्ष में नहीं है।

कहना नहीं होगा कि अल्पमत ही भारतीय नेताओं का मत है,

बिलकुल ही कर न लगना चाहिए। ऐसे माल पर— जो आधा विदेश में बना हो, परंतु तैयार भारत के कारख़ाने में होता हो—कम से-कम महसूल लिया जाय। जिन वस्तुओं के संरक्षण की आवश्यकता नहीं है, उन पर कितना कर लगाना चाहिए, इसका निर्णय भारत-सरकार अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार करे।

अल्पमत ने टैरिफ़-बोर्ड की आवश्यकता स्वीकार तो की है, पर उसकी राय में बोर्ड का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जो हाई-कोर्ट की जजी के पद पर कार्य कर चुका हो, और बोर्ड के अन्य दोनों सभासदों का चुनाव व्यवस्थापक सभा के ग़ैर-सरकारी सदस्यों द्वारा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त भारत की दो प्रधान व्यापारिक संस्थाओं की ओर से चुने गए दो प्रतिनिधि भी बोर्ड में रहें, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर बोर्ड बुला लिया करे।

सरकार का निश्चय—फ़रवरी, सन् १६२३ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा में उक्त आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट पर विचार हुआ। श्रीयुत जमनादास-द्वारकादासजी ने यह प्रस्ताव किया कि "यह सभा सपरिषद् गवर्नर जेनरल से अनुरोध करती है कि भारतके हितों की रक्षाके लिये संरक्षण नीति उपयोगी है, भारत सरकार व्यवस्थापक सभा की अनुमति से उसका उपयोग करे।" प्रस्ताव को पेश करते हुए आपने बतलाया कि अब तक इस संबंध में सरकारी नीति बहुत अनुचित रही है, और अब उसमें परिवर्तन होना चाहिए।

आपके कथन के अनंतर ही सरकार की ओर से मि० इनीज़ ने यह संशोधन पेश किया—

"यह सभा सपरिषद् गवर्नर जेनरल से अनुरोध करती है कि [क] वह यह सिद्धांत स्वीकृत करती है कि भारत-सरकार की भावी नीति भारतीय उद्योग-धंधों की उन्नति की ओर अग्रसर की जाय, [ख] संरक्षण के सिद्धांत का उपयोग करने में भारत की आर्थिक आवश्य-

बिलकुल ही कर न लगना चाहिए। ऐसे माल पर— जो आधा विदेश में बना हो, परंतु तैयार भारत के कारख़ाने में होता हो—कम से-कम महसूल लिया जाय । जिन वस्तुओं के संरक्षण की आवश्यकता नहीं है, उन पर कितना कर लगाना चाहिए, इसका निर्णय भारत-सरकार अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार करे।

अल्पमत ने टैरिफ़-बोर्ड की आवश्यकता स्वीकार तो की है, पर उसकी राय में बोर्ड का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जो हाई-कोर्ट की जजी के पद पर कार्य कर चुका हो, और बोर्ड के अन्य दोनों सभासदों का चुनाव व्यवस्थापक सभा के गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त भारत की दो प्रधान व्यापारिक संस्थाओं की ओर से चुने गए दो प्रतिनिधि भी बोर्ड में रहें, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर बोर्ड बुला लिया करे।

सरकार का निश्चय—फ़रवरी, सन् १९२३ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा में उक्त आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट पर विचार हुआ। श्रीयुत जमनादास-द्वारकादासजी ने यह प्रस्ताव किया कि "यह सभा सपरिषद् गवर्नर जेनरल से अनुरोध करती है कि भारतके हितों की रक्षाके लिये संरक्षण नीति उपयोगी है, भारत सरकार व्यवस्थापक सभा की अनुमति से उसका उपयोग करे।" प्रस्ताव को पेश करते हुए आपने बतलाया कि अब तक इस संबंध में सरकारी नीति बहुत अनुचित रही है, और अब उसमें परिवर्तन होना चाहिए।

आपके कथन के अनंतर ही सरकार की ओर से मि० इनीस ने यह संशोधन पेश किया—

"यह सभा सपरिषद् गवर्नर जेनरल से अनुरोध करती है कि [क] वह यह सिद्धांत स्वीकृत करती है कि भारत-सरकार की आर्थिक नीति भारतीय उद्योग-धंधों की उन्नति की ओर अग्रसर की जाय, [ख] संरक्षण के सिद्धांत का उपयोग करने में भारत की आर्थिक अवस्थ-

बिलकुल ही कर न लगाना चाहिए। ऐसे माल पर— जो आधा विदेश में बना हो, परंतु तैयार भारत के कारख़ाने में होता हो—कम से-कम महसूल लिया जाय। जिन वस्तुओं के संरक्षण की आवश्यकता नहीं है, उन पर कितना कर लगाना चाहिए, इसका निर्णय भारत-सरकार अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार करे।

अल्पमत ने टैरिफ़-बोर्ड की आवश्यकता स्वीकार तो की है, पर उसकी राय में बोर्ड का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जो हाईकोर्ट की जजी के पद पर कार्य कर चुका हो, और बोर्ड के अन्य दोनों सभासदों का चुनाव व्यवस्थापक सभा के ग़ैर-सरकारी सदस्यों द्वारा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त भारत की दो प्रधान व्यापारिक संस्थाओं की ओर से चुने गए दो प्रतिनिधि भी बोर्ड में रहें, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर बोर्ड बुला लिया करे।

सरकार का निश्चय—फ़रवरी, सन् १९२३ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा में उक्त आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट पर विचार हुआ। श्रीयुत जमनादास-द्वारकादासजी ने यह प्रस्ताव किया कि "यह सभा सपरिषद् गवर्नर जेनरल से अनुरोध करती है कि भारतके हितों की रक्षाके लिये संरक्षण नीति उपयोगी है, भारत सरकार व्यवस्थापक सभा की अनुमति से उसका उपयोग करे।' प्रस्ताव को पेश करते हुए आपने बतलाया कि अब तक इस संबंध में सरकारी नीति बहुत अनुचित रही है, और अब उसमें परिवर्तन होना चाहिए।

आपके कथन के अनंतर ही सरकार की ओर से मि०
यह संशोधन पेश किया—

"यह सभा सपरिषद् गवर्नर जेनरल से अनुरोध
कि वह सिद्धांत स्वीकृत करती है कि
भारतीय उद्योग-धंधों की ... [illegible]
संरक्षण के सिद्धांत का ... [illegible]

कि यह प्रस्ताव भारत-मंत्री की राय से किया गया है, और भारत-मंत्री को इसमें इँगलैंड के व्यापारियों को बचाने की काफ़ी गुंजाइश मिल गई है।

आख़िर इस प्रस्ताव से लाभ ही क्या हुआ ? आर्थिक कमीशन का आडंबर रचने और उसमें इतना धन तथा परिश्रम नष्ट करने की क्या आवश्यकता थी ? कहा जा सकता है कि सरकार ने संरक्षण-सिद्धांत को मान लिया। परंतु इस प्रकार मुरव्वत में, दबी ज़बान से कोई बात स्वीकार करने से, जब तक कि वह यथेष्ट रूप से कार्य में परिणत न हो, क्या फ़ायदा ?

भारत का हित संरक्षण में है—भारतीय अर्थ-शास्त्र-वेत्ताओं—स्व० श्री० गोखले, जस्टिस रानाडे और श्री० रमेशचंद्र दत्त—और निष्पक्ष अँगरेज़ लेखकों ने भी यह स्वीकार किया है कि भारत के हित की दृष्टि से यहाँ संरक्षण-नीति का ही व्यवहार होना चाहिए। इससे निम्न-लिखित कई लाभ होंगे—

(१) क़रीब ७५ वर्ष पहले इँगलैंड ही को भारतवर्ष से कपड़ा जाता था। पर इँगलैंड ने संरक्षण-कर लगाकर इस व्यापार को चौपट कर दिया। संरक्षण-नीति का अस्त्र हाथ में आते ही मैंचेस्टर की 'डंपिंग' अर्थात् अपना माल घाटे पर भी निकाल देने की स्वार्थमय नीति का प्रतिकार करना भारत के लिये कुछ भी कठिन न होगा, और वह अपना व्यापार चमका सकेगा।

(२) चमड़े के व्यापार में भारत से कच्चा चमड़ा बाहर जाता और आस्ट्रेलिया से कमाया हुआ चमड़ा यहाँ आता है। संरक्षण-नीति से इस व्यापार में बड़ी उन्नति होगी।

(३) भारत को जीवन-निर्वाह की सामग्री किसी से नहीं लेनी पड़ती। अतएव यदि अन्य देशवाले यहाँ आनेवाली आराम की वस्तुओं पर महसूल लगा दें, तो भी भारत को कोई हानि नहीं। और, वे यहाँ से जानेवाले कच्चे माल पर तो टैक्स लगा ही नहीं सकते; क्योंकि उन्हें

बाहर जाने से भयंकर दुर्भिक्षों की विकरालता और भी बढ़ जाती है। इनसे बचने के लिये आवश्यक यह है कि निर्यात पर यथेष्ट कर लगाया जाय। अन्य पदार्थों में अन्न, रुई और तेलहन पर तो कर लगाना नितांत आवश्यक है। अन्न के निर्यात पर कर लगने से यहाँ महँगी कम होगी। रुई के निर्यात पर कर लगने से हमारे स्वदेशी वस्त्र के व्यवसाय की उन्नति होगी, चर्खा चलानेवालों को यथेष्ट सामग्री तथा कार्य मिलेगा, असंख्य अनाथों, विधवाओं और दरिद्रों की आजीविका चलेगी, देश के जुलाहों और अन्य कारीगरों को स्वतंत्रता-पूर्वक निर्वाह करने का साधन प्राप्त होगा, तथा विदेशी वस्त्रों में व्यय होनेवाला धन स्वदेश ही में रहकर यहाँ के निवासियों की सुख-समृद्धि में सहायक होगा। इसी प्रकार तेलहन को विदेश भेजकर यहाँ से तेल मँगाने में हमें इस समय जो हानि हो रही है, वह उसके निर्यात पर यथेष्ट कर लगाने से दूर हो सकती है।

व्यापारियों का कर्तव्य—हमने बतलाया है कि यहाँ विदेशों से आनेवाले तैयार माल पर आयात-कर एवं यहाँ से बाहर जानेवाले कच्चे माल पर निर्यात-कर लगना बहुत ज़रूरी है। परंतु वर्तमान परिस्थिति में (यद्यपि हमें कहने को तो आर्थिक स्वराज्य प्राप्त है) इस कर का यथेष्ट मात्रा में लगाया जाना संभव नहीं दिखाई देता। इँगलैंड के सूत्रधारों को और यहाँ की सरकार को भी इँगलैंड (अथवा साम्राज्य) के हितों की इतनी अधिक चिंता है कि भारत के कल्याण का बहुधा बलिदान कर दिया जाता है। इसका समुचित प्रतिकार स्वराज्य प्राप्त होने पर ही हो सकेगा। उसके लिये तन-मन से उद्योग करना प्रत्येक नागरिक का प्रधान कर्तव्य है—धर्म है परंतु प्रश्न तो यह है कि उस समय तक क्या किया जाय?

देश के व्यापार पर व्यापारियों का तो बहुत कुछ अधिकार रहता है। दुःख की बात है कि इस समय शासकों के अतिरिक्त हम

साम्राज्य-संबंधी व्यापार की क़ीमत और स्वरूप—इस नीति के प्रभाव को समझने के लिये पहले भारतवर्ष के आयात और निर्यात की क़ीमत और स्वरूप जान लेना चाहिए। क़ीमत जानने के लिये यहाँ तुलनात्मक अंक दिए जाते हैं—

देश	१९१३-१४ में भारत का (करोड़ रुपयों में)		१९२१-२२ में भारत का (करोड़ रुपयों में)	
	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात
ब्रिटिश-द्वीप	५८	११७	४९	१५१
अँगरेज़ों के अधीन अन्य देश	३६	११	५२	२६
ब्रिटिश-साम्राज्य का योग	९४	१२८	१०१	१७७
योरप	८५	३०	४७	२३
अमेरिका के संयुक्त-राज्य	२२	५	२६	२२
जापान	२३	५	३९	१४
शेष अन्य देश	२५	१५	३२	३०
साम्राज्य के बाहर के कुल देश	१५५	५५	१४४	८९
समस्त योग	२४९	१८३	२४५	२६६

आने से भारत का कुछ विशेष नुकसान नहीं होगा। परंतु यहाँ के चावल और चा के बिना आस्ट्रेलिया के निवासियों के भूखे रहने की संभावना है।

साम्राज्यांतर्गत रियायत से इँगलैंड का अपरिमित लाभ—सन् १९२१-२२ ई० में भारतवर्ष के आयात का फ़ी-सैकड़े ५९.७ मूल्य का माल इँगलैंड से आया। असहयोग-आंदोलन आदि कारणों के न होने की दशा में, औसत से यहाँ ६१ फ़ी-सैकड़ा मूल्य का माल इँगलैंड से आता है। इसमें से कपड़े को छोड़कर अन्य चीज़ें यहाँ की प्रधान आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करतीं। और, कपड़ा यहाँ तैयार हो सकता है। इसलिये उन पर अधिक टैक्स लगाकर भारतवर्ष विना कष्ट भोगे इँगलैंड को क्षति पहुँचा सकता है, तथा उसके प्रतिपक्षी देशों का व्यापार और स्वयं अपने उद्योग-धंधे बढ़ा सकता है।

यदि भारतवर्ष साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति मान ले, तो—

(क) कर कम लगने से यहाँ इँगलैंड का माल अन्य देशों के माल से सस्ता पड़ेगा। अतः दूसरे देशों का माल यहाँ न बिक सकेगा। और, तब यहाँ का बाज़ार पूर्ण रूप से इँगलैंड के हाथ चला जायगा।

(ख) इँगलैंड को यहाँ का कच्चा माल अन्य देशों की अपेक्षा अधिक मात्रा में एवं सस्ते दाम पर मिलेगा, और उसके व्यापारिक (प्रकारांतर से राजनीतिक) बल की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी।

भारतवर्ष को कोई लाभ नहीं—भारतवर्ष की निर्यात की चीज़ों पर इँगलैंड में कर की रियायत तभी हो सकती है, जब वहाँ वे चीज़ें किसी अन्य देश से आती हों, और भारतवर्ष की चीज़ों से मुक़ाबला करना पड़ता हो। इँगलैंड के साथ चावल और कच्चे चमड़े के व्यापार में भारतवर्ष को किसी से मुक़ाबला नहीं करना पड़ता।

'सदा महँगे बाज़ार में बेचना और सस्ते भाव में ख़रीदना'। इस समय भारतवर्ष के कच्चे माल के लिये सारे संसार का बाज़ार खुला हुआ है, इसलिये ख़रीदारों में बदाबदी होने के कारण यहाँ के माल के अच्छे दाम लगते हैं। पर 'रियायत' की नीति से इन चीज़ों के लिये एक ही बाज़ार रह जायगा, और क़ीमत निश्चित करने में ख़रीदार का ही बोलबाला रहेगा।

(ख) इसी प्रकार यहाँ जो माल बाहर से तैयार होकर आता है, उसमें भी बाहर के देशों में बदाबदी है, जिसके कारण हमें चीज़ें सस्ती मिलती हैं। पर 'रियायत' की नीति से इँगलैंड को बदाबदी का डर नहीं रहेगा, और हमें उसकी चीज़ें अधिक दाम पर ख़रीदनी पड़ेंगी।

(ग) किंतु सबसे अधिक भय यह है कि जिन देशों के माल पर, इँगलैंड के लाभ के लिये, हम अधिक कर लगावेंगे, वे भी, हमसे बदला लेने के लिये, भारत के निर्यात-व्यापार पर अधिक कर लगा देंगे, जिससे या तो हम यह कर देकर घाटा सहेंगे, या इँगलैंड के व्यापारियों की मनमानी क़ीमत पर उन्हीं के हाथ अपना माल बेचा करेंगे। इस प्रकार प्रत्येक दशा में हमारी हानि और इँगलैंड का लाभ होगा।

(घ) अन्य देशों का जो माल यहाँ आवेगा, उस पर भी इँगलैंड की दलाली लगेगी। संभव है, जो चीज़ें इँगलैंड में नहीं बनतीं, उन्हें इँगलैंड के लोभी व्यापारी दूसरे देश से मँगाकर भारतवर्ष में अपने नाम से बेचने लगें। इससे निर्धन भारतवासियों को अपनी ज़रूरत की सब चीज़ों के लिये अधिक दाम देने पड़ेंगे।

(च) इस समय लगभग ६१ फ़ी-सदी माल यहाँ इँगलैंड से ही आता है। कर कम हो जाने पर यह और भी अधिक आने लगेगा। और, तब आयात-कर की कमी से भारत-सरकार की आमदनी में

या न मानना उसकी इच्छा पर ही निर्भर रहना चाहिए।" परंतु स्वराज्य के बिना अपनी "इच्छा" कैसी ?

भारतमत ने ब्रिटिश-द्वीप अथवा ब्रिटिश-उपनिवेशों के संबंध में साम्राज्यांतर्गत संरक्षण-नीति ग्रहण करने का विरोध किया है। उसकी राय है कि भारत को जब तक स्वराज्य नहीं मिल जाता, और जब तक पूर्णतः निर्वाचित व्यवस्थापक-सभा भारत की अर्थ-नीति का संचालन नहीं करती, तब तक भारत साम्राज्यांतर्गत संरक्षण-नीति नहीं ग्रहण कर सकता। इस नीति के संबंध का पूर्ण अधिकार—यदि आज ही इसके अवलंबन करने की आवश्यकता हो तो—व्यवस्थापक-सभा के गैर-सरकारी सदस्यों को रहना चाहिए। साम्राज्य के अन्यान्य उपनिवेशों के लिये इस नीति के ग्रहण करने का निर्णय पारस्परिक हितों की दृष्टि से होना चाहिए। परंतु इसके लिये पहली शर्त यह होनी चाहिए कि उपनिवेशों में भारतीयों को समानाधिकार दिए जायँ, और एशिया-निवासियों के विरुद्ध वे क़ानून रद कर दिए जायँ, जिनका संबंध भारतवासियों से हो।

षष्ठ खंड
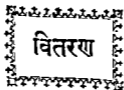
वितरण

उस पर उत्पत्ति-व्यय ३) फ़ी मन पड़ता है । अस्तु, जब जन-संख्या की वृद्धि के कारण अन्न की माँग बढ़े, और इस ज़मीन को जोतना पड़े, तो बाज़ार-दर ३) मन होगी । इससे अच्छी ज़मीनवाले को प्रति मन १) का अर्थात् ४० मन में ४०) का लाभ होगा ।

कल्पना कीजिए कि जन-संख्या के और भी बढ़ जाने से अब और अधिक दूरवाली कम उपजाऊ ज़मीन के जोतने की आवश्यकता पड़ी । उसकी उपज फ़ी एकड़ २० मन और उत्पत्ति-व्यय ४) फ़ी मन है । अब बाज़ारू क़ीमत ४) मन होगी । इसलिये पहले दर्जे की भूमिवाले को २) प्रति मन अर्थात् ४० मन पर ८०) लाभ होगा, और दूसरे दर्जे की भूमिवाले को १) प्रति मन अर्थात् ३० मन उपज पर ३०) लाभ होगा ।

रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार यह अधिक लाभ ही 'आर्थिक' लगान होगा। यहाँ पर यह ध्यान में रखना होगा कि यह लगान भूमि के उपजाऊपन के कारण नहीं लग रहा है, बरन् कम उपजाऊ भूमि के कारण । इस सिद्धांत में हमें यह मानना पड़ता है कि एक भूमि ऐसी भी होती है, जिसमें लगाए हुए श्रम और पूँजी के बदले उतने से ज़्यादा और कुछ उत्पन्न नहीं होता, और इसी भूमि के आधार पर और भूमि के लगान का निश्चय होता है । ऐसी भूमि को कृषि की सबसे निकृष्ट भूमि कहते हैं । इस भूमि में पदार्थों का जो उत्पादन-व्यय होगा, वह उन पदार्थों का बाज़ार-भाव होगा (यदि बाज़ार में दाम कम लगे, तो उस भूमि पर कोई खेती ही न करे)। इससे अच्छी भूमि की उपज का उत्पादन-व्यय कम होता है, और दाम बाज़ार-भाव से ही मिलते हैं । इसलिये उसमें खेती करनेवालों को लाभ रहता है, अर्थात् उन्हें लगान मिलता है। इस प्रकार लगान बाज़ार-भाव का कारण नहीं, बल्कि उसका परिणाम है ।

कर ऐसी अच्छी तरह खेती नहीं करते, जैसे मौरूसी काश्तकार। इससे देश की उपज नहीं बढ़ती, और किसानों की दशा दिन-पर-दिन खराब होती जाती है।

ज़मींदारों से बेदख़ली का अधिकार वापस लेकर इस कुप्रथा का अंत किया जाना चाहिए। काश्तकारी-क़ानून में ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय कि ग़ैर-मौरूसी काश्तकारों को, जो तीन साल खेती कर चुके हों, मौरूसी हक़ प्राप्त हो जाय। और, जिन्हें खेती करते कम समय हुआ हो, उन्हें उस अवधि के पूरी होने पर मौरूसी हक़ प्राप्त हो जायँ।

बेदख़ली का नियम हटाने के लिये किसानों को भी संगठित रूप से आंदोलन करना चाहिए। आजकल जगह-जगह किसान-सभायें स्थापित हो रही हैं। ये किसानों के विविध कष्टों को दूर करने का बीड़ा उठा सकती हैं। देश-हितैषियों को इनकी वृद्धि और विस्तार में योग देना चाहिए।

अस्थायी बंदोबस्त—अस्थायी बंदोबस्तवाले प्रांतों में सरकारी मालगुज़ारी एक बार केवल तीस, बीस या इससे कम सालों के लिये निश्चित की जाती है। इस अवधि के उपरांत हर समय नया बंदोबस्त होता है, जिसमें बहुधा मालगुज़ारी का भार बढ़ता ही रहता है। अस्थायी बंदोबस्त दो प्रकार का है—

(क) ज़मींदारी, ताल्लुक़दारी या ग्राम्य—इसमें ज़मींदार या ताल्लुक़दार अपने हिस्से की, अथवा गाँववाले मिलकर कुल गाँव की मालगुज़ारी सरकार को चुकाने के लिये उत्तरदायी होते हैं।

(ख) रैयतवारी—इसमें सरकार सीधे काश्तकारों से संबंध रखती है।

बंदोबस्त का क्षेत्रफल—बंदोबस्त की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के क्षेत्र का मोटा हिस्सा नीचे दिया जाता है। इसमें बंजर, परती

कर ऐसी अच्छी तरह खेती नहीं करते, जैसे मौरूसी काश्तकार। इससे देश की उपज नहीं बढ़ती, और किसानों की दशा दिन-प्रतिदिन ख़राब होती जाती है।

ज़मींदारों से बेदख़ली का अधिकार वापस लेकर इस कुप्रथा का अंत किया जाना चाहिए। काश्तकारी-क़ानून में ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय कि ग़ैर-मौरूसी काश्तकारों को, जो तीन साल खेती कर चुके हों, मौरूसी हक़ प्राप्त हो जाय। और, जिन्हें खेती करते कम समय हुआ हो, उन्हें उस अवधि के पूरी होने पर मौरूसी हक़ प्राप्त हो जायँ।

बेदख़ली का नियम हटाने के लिये किसानों को भी संगठित रूप से आंदोलन करना चाहिए। आजकल जगह-जगह किसान-सभाएँ स्थापित हो रही हैं। वे किसानों के विविध कष्टों को दूर करने का बीड़ा उठा सकती हैं। देश-हितैषियों को इनकी वृद्धि और विस्तार में योग देना चाहिए।

अस्थायी बंदोबस्त—अस्थायी बंदोबस्तवाले प्रांतों में सरकारी मालगुज़ारी एक बार केवल तीस, बीस या इससे कम सालों के लिये निश्चित की जाती है। इस अवधि के उपरांत हर समय नया बंदोबस्त होता है, जिसमें बहुधा मालगुज़ारी का भार बढ़ता ही रहता है। अस्थायी बंदोबस्त दो प्रकार का है—

(क) ज़मींदारी, ताल्लुक़दारी या ग्राम्य—इसमें ज़मींदार या ताल्लुक़दार अपने हिस्से की, अथवा गाँववाले मिलकर कुल गाँव की, मालगुज़ारी सरकार को चुकाने के लिये उत्तरदायी होते हैं।

(ख) रैयतवारी—इसमें सरकार सीधे काश्तकारों से संबंध रखती है।

बंदोबस्त का क्षेत्रफल—बंदोबस्त की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के क्षेत्र का मोटा हिस्सा नीचे दिया जाता है। इसमें

दस्तूर, आबादी और स्पर्द्धा का प्रभाव—पहले जहाँ जब तक कोई कृषक दस्तूर के माफ़िक़ लगान देता रहता था, तब तक तो वह अपनी इच्छा के विरुद्ध बेदख़ल नहीं कराया जा सकता था। पीछे समय-समय पर युद्ध, महँगी और बीमारियों के कारण भारतवर्ष के उपजाऊ भागों की भी आबादी कम हो गई, और ज़मींदारों को, दूर-दूर के कृषकों को अपनी भूमि की ओर आकर्षित करने के लिये, आपस में स्पर्द्धा और कृषकों के साथ रियायत करनी पड़ी। इस प्रकार लगान-संबंधी दस्तूर टूटने लगा।

किंतु आजकल एक दूसरे कारण से भी दस्तूर टूट रहा है। जनता की वृद्धि होने और उपज के बाज़ार का क्षेत्र बढ़ने से भूमि की माँग बढ़ गई है। और, ज़मीन ऐसी चीज़ है, जिसकी पूर्ति नहीं बढ़ सकती। सन् १८६० ई० से लगान प्रायः ठेके से निश्चित होने लगा है। हाँ, दस्तूर का कुछ लिहाज़ ज़रूर रहता है। ब्रिटिश-शासन के प्रारंभिक समय तक यहाँ दस्तूर का प्रभाव बहुत पड़ता था। अब एक ज़िले की दूसरे ज़िले से तो विशेष स्पर्द्धा नहीं होती। परंतु एक ही गाँव में यह बहुधा तीव्र होती है।

कंपनी की अनीति—पहले भारतवर्ष में ज़मीन पर कृषक का अधिकार समझा जाता था, सरकार या ज़मींदार का नहीं। परंतु व्यापार-रत स्वार्थी ईस्ट इंडिया-कंपनी ने इस देश को अपनी ज़मींदारी समझा, और कठोरता तथा निर्दयता-पूर्वक, ज़्यादा-से-ज़्यादा जितनी मालगुज़ारी वह वसूल कर सकी, वसूल की। इस अनीति का फल यह हुआ कि ज़मीन परती पड़ी रहने लगी, काश्तकार भूखों मरने लगे। तब अधिकारियों को यह ख़याल आया कि यह स्थिति अच्छी नहीं। जब ज़मीन जोती ही न जायगी, तो मालगुज़ारी कहाँ से ली जायगी?

बंगाल में स्थायी बंदोबस्त—अंततः लॉर्ड कार्नवालिस ने

में अपना हिस्सा ४० फ़ी सदी ठहराना पड़ा। सन् १८६४ ई० में यही नियम भारतवर्ष के दक्षिणी प्रांतों में कर दिया गया। लेकिन इससे वास्तव में लाभ ज़मींदारों को ही हुआ। अब किसानों के बारे में सुनिए—

काश्तकारी क़ानून—क्रमशः जन-संख्या-वृद्धि और औद्योगिक ह्रास के कारण अधिकाधिक भूमि में खेती होने लगी, और भूमि की माँग बढ़ती गई। परंतु भूमि की मात्रा परिमित ही थी। अतएव ज़मींदारों ने अपनी भूमि का लगान बढ़ाना शुरू कर दिया। इससे किसान बहुत दुःखी होने लगे। इस पर सन् १८५६ ई० में सरकार ने इस विषय की ओर पहलेपहल ध्यान दिया। सन् १८८५ ई० में बंगाल-टिनेंसी (Tenancy) या काश्तकारी-ऐक्ट पास हुआ। इससे पहले के नियमों की त्रुटियाँ दूर की गईं, और सब प्रकार के काश्तकारों के दर्जों और अधिकारों की रक्षा की गई। इस ऐक्ट में यह व्यवस्था की गई कि जो किसान एक भूमि में १२ वर्ष तक काश्त कर ले, उसे मौरूसी अधिकार प्राप्त हो जायँ।

औसत मालगुज़ारी—ब्रिटिश-भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रांतों में सरकार द्वारा ली जानेवाली फ़ी एकड़ मालगुज़ारी की औसत पृथक्-पृथक् है। स्थायी बंदोबस्तवाले प्रांतों में यह औसत १ आना ६ पाई से लेकर १ रु० ४ आने ६ पाई तक, अस्थायी ज़मींदारीवाले प्रांतों में ११ आने से लेकर १ रु० १२ आ० ६ पाई तक तथा रैयतवारी प्रांतों में १ रु० ५ आ० से लेकर तीन रुपए से भी अधिक है।

कर-संबंधी जाँच-कमेटी ने मालगुज़ारी के संबंध में जो सिफ़ारिश की है, वह उसकी अन्य करों की सिफ़ारिशों के साथ अगले खंड में दी जायगी।

ज़मीन का मालिक कौन—सरकार या प्रजा? *—प्राचीन

था। सन् १७१८ ई० में ईस्ट इंडिया-कंपनी ने अपनी कलकत्तेवाली कोठी के पास, ३८ गाँवों की ताल्लुक़दारी ख़रीदने के लिये, एक प्रार्थना-पत्र भेजा था। बादशाह ने कंपनी को प्रजा से गाँव ख़रीदने की आज्ञा दी थी। पेशवा भी क़ीमत देकर ही ज़मीन ख़रीदते थे।

सन् १८५७ ई० में बंबई-हाईकोर्ट के 'कानदा लैंड असेसमेंट' के मुक़दमे में जस्टिस वेस्ट्रॉप और जस्टिस वेस्ट ने इस प्रश्न पर ख़ूब विचार कर, हिंदू-धर्म के आधार पर, प्रजा का भूमि-स्वामित्व सिद्ध कर दिखाया था। प्रिवी-कौंसिल ने भी इसी का अनुमोदन किया था।

सरकार का भूमि-स्वामित्व कैसे हुआ?—पूर्वोक्त विवेचन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि अँगरेज़-सरकार ज़मीन की मालिक नहीं मानी जा सकती। तब यह प्रश्न उठता है कि अँगरेज़ों को भूमि-स्वामित्व मिल कैसे गया?

इसके उत्तर में श्रीजोशीजी लिखते हैं—"बड़े-बड़े स्वतंत्र मुसल-मान सूबेदारों को पदच्युत करके कंपनी ने उन्हें अपने यहाँ नौकर रक्खा, और उन्हीं के द्वारा राज-काज चलाने लगी। ज़मीन का बंदोबस्त भी यही समझकर किया गया कि अँगरेज़-सरकार ही ज़मीन की मालिक है। धीरे-धीरे रैयतवारी पद्धति प्रचार में आने लगी।"

ज़मीन से होनेवाली आय में सरकार का अधिकार—अस्तु, अधिकारियों का कथन है कि भारतवर्ष में भूमि सरकार की है। उसे उस पर एकाधिकार प्राप्त है। उसने उसे, अपनी ओर से, स्थायी या अस्थायी रूप से, दूसरे व्यक्तियों को दे रक्खा है। अतएव ज़मीन की पैदावार से ख़र्च काटकर उन्हें जो लाभ होता है, उसमें से सर-कार (आधे के लगभग) हिस्सा लेती है।

सिद्धांत से तो सरकार लाभ का ही हिस्सा लेती है। परंतु व्यव-हार में प्रायः ऐसा नहीं होता। सरकार वास्तव में बहुत ज़्यादा ले लेती है। बंबई, मदरास आदि प्रांतों में सरकार ही स्वयं भूमि को

और किसी काम की योग्यता न रहने लगी। अब मिडल-पास की तो बात ही क्या, बहुधा बी० ए०-पास भी ४० ५० रु० मासिक नहीं पा सकते। कभी-कभी तो ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि ग्रेजुएट केवल ३०-३५ रुपए की नौकरी पाने को तरसते रहे। स्मरण रहे, रुपए का मूल्य अब पहले की अपेक्षा बहुत कम रह गया है। इसलिये यदि नक़द वेतन पहले के समान भी हो, तो भी वह असली वेतन के विचार से बहुत कम आना जायगा।

मज़दूरी और अन्य पदार्थों में अंतर—माँग और पूर्ति के नियम के व्यवहार की दृष्टि से मज़दूरी और अन्य पदार्थों में कुछ अनिवार्य अंतर है। प्रथम तो यही स्पष्ट है कि अन्य पदार्थों की तुलना में मज़दूरी बहुत ही शीघ्र क्षय होनेवाली वस्तु है। श्रमजीवी का जो समय व्यर्थ चला जाता है, वह चला ही जाता है। इसलिये निर्धन श्रमजीवी अपने श्रम को जिस क़ीमत पर बने, बेच देना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता मज़दूरी की दर घटाने में सहायक होती है।

पुनः अन्य पदार्थों की पूर्ति की तरह मज़दूरी की पूर्ति में जल्द परिवर्तन नहीं होता। माँग होने पर अन्य पदार्थ प्रायः शीघ्र ही बाज़ार में पहुँचाए जा सकते हैं। उनकी दर बहुत समय तक चढ़ी हुई नहीं रहती। परंतु श्रमजीवियों को अपना घर और गाँव (या नगर) तुरंत छोड़ने की इच्छा नहीं होती। इनकी पूर्ति होने में बहुधा विलंब भी लग जाता है। इसलिये नए कल-कारख़ाने खुलने के समय, आरंभ में, कभी-कभी बहुत समय तक मज़दूरी की दर, अन्य स्थानों की अपेक्षा, चढ़ी रहती है। इसी के साथ यह भी बात है कि जो श्रमजीवी एक बार वहाँ आकर रहने लग जायँगे, वे सहसा वहाँ से जायँगे भी नहीं। अतः यदि बाद में, किसी घटना-वश, श्रमजीवियों की माँग कम हो जाय, तो वहाँ पूर्ति जल्दी न घटने से मज़दूरी की दर का, अन्य स्थानों की अपेक्षा, बहुत समय तक घटी रहना संभव है।

नक़द और असली—पहले बताया जा चुका है कि उत्पादकों को आजकल प्रायः उत्पन्न पदार्थ का कोई हिस्सा न देकर ऐसी रक़म दी जाती है, जो उनके हिस्से के पदार्थ की क़ीमत हो। इस प्रकार श्रमजीवियों के श्रम से जो वस्तु पैदा होती है, वही उन्हें नहीं दी जाती। यदि दी जाय, तो बड़ी असुविधा हो। मान लो, कोई श्रमजीवी लोहे या कोयले की खान में काम करता है। यदि उसे उसके श्रम के बदले लोहा या कोयला ही दिया जाय, तो वह उसका क्या करेगा? उसे इनके बदले अपनी आवश्यकता के पदार्थ—अन्न-वस्त्र आदि—प्राप्त करने होंगे। और, यह काम हर समय और हर स्थान में सहज ही नहीं हो सकता। इसलिये आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः रुपए-पैसे में चुकाया जाता है। इसे नक़द मज़दूरी Money Wages या Nominal Wages कहते हैं। इसके विपरीत यदि श्रमजीवियों को उनके श्रम के बदले अन्न-वस्त्र आदि ऐसी चीज़ें दी जायँ, जिनकी उन्हें उपभोग के लिये आवश्यकता हो, तो ये चीज़ें उनकी असली मज़दूरी हुई, ऐसा कहा जायगा।

नक़द मज़दूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। उदाहरणार्थ अगर मोहन को रोज़ाना ।) मिलते हैं, और उसके नगर में गेहूँ का भाव दस सेर का है, तथा सोहन को रोज़ाना ।≈) आने मिलते हैं, और उसके नगर में गेहूँ का भाव छः सेर का है, तो सोहन की नक़द मज़दूरी अधिक होने पर भी असली मज़दूरी मोहन को ही अधिक मिलती है। इसी प्रकार अगर दोनों को अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान बराबर ही मिले, परंतु मोहन को रहने का मकान आदि मुफ़्त मिलता है, अथवा काम करने के घंटों के बीच में अवकाश या मनोरंजन का ऐसा अवसर मिलता है, जो सोहन को नहीं दिया जाता, तो भी मोहन की ही असली मज़दूरी अधिक मानी जायगी। यह स्पष्ट है कि दो श्रम-

और किसी काम की योग्यता न रहने लगी। अब मिडल-पास की तो बात ही क्या, बहुधा बी० ए०-पास भी ४०-५० रु० मासिक नहीं पा सकते। कभी-कभी तो ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि ग्रेजुएट केवल १०-१५ रुपए की नौकरी पाने को तरसते रहे। स्मरण रहे, रुपए का मूल्य अब पहले की अपेक्षा बहुत कम रह गया है। इसलिये यदि नक़द वेतन पहले के समान भी हो, तो भी वह असली वेतन के विचार से बहुत कम माना जायगा।

मज़दूरी और अन्य पदार्थों में अंतर—माँग और पूर्ति के नियम के व्यवहार की दृष्टि से मज़दूरी और अन्य पदार्थों में कुछ अनिवार्य अंतर है। प्रथम तो यही स्पष्ट है कि अन्य पदार्थों की तुलना में मज़दूरी बहुत ही शीघ्र क्षय होनेवाली वस्तु है। श्रमजीवी का जो समय व्यर्थ चला जाता है, वह चला ही जाता है। इसलिये निर्धन श्रमजीवी अपने श्रम को जिस क़ीमत पर बने, बेच देना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता मज़दूरी की दर घटाने में सहायक होती है।

पुनः अन्य पदार्थों की पूर्ति की तरह मज़दूरी की पूर्ति में जल्द परिवर्तन नहीं होता। माँग होने पर अन्य पदार्थ प्रायः शीघ्र ही बाज़ार में पहुँचाए जा सकते हैं। उनकी दर बहुत समय तक चढ़ी हुई नहीं रहती। परंतु श्रमजीवियों को अपना घर और गाँव (या नगर) तुरंत छोड़ने की इच्छा नहीं होती। इसकी पूर्ति होने में बहुधा विलंब भी लग जाता है। इसलिये नए कल-कारख़ाने खुलने के समय, आरंभ में, कभी-कभी बहुत समय तक मज़दूरी की दर, अन्य स्थानों की अपेक्षा, चढ़ी रहती है। इसी के साथ यह भी कम है कि जो श्रमजीवी एक बार वहाँ आकर रहने लग जाते, वे सहसा वहाँ से जाते भी नहीं। अतः यदि बाद में, किसी कारण-वश, श्रमजीवियों की माँग कम हो जाय, तो वहाँ पूर्ति जल्दी न घटने से मज़दूरी की दर का, अन्य स्थानों की अपेक्षा, बहुत समय तक गिरी रहना संभव है।

(१) व्यवसाय की प्रियता
(२) व्यवसाय की शिक्षा
(३) व्यवसाय की स्थिरता
(४) व्यवसाय में विश्वसनीयता आदि विशेष गुणों की आवश्यकता
(५) निश्चित वेतन के अतिरिक्त कुछ और प्राप्ति की आशा
(६) व्यवसाय में सफलता का निश्चय
(७) मज़दूरों की संख्या

अब हम उपर्युक्त कारणों में एक एक पर विचार करते हैं। स्मरण रहे, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन कारणों में दो या अधिक का प्रभाव एकसाथ इकट्ठा ही पड़ जाता है।

व्यवसाय की प्रियता—जिस व्यवसाय को लोग अच्छा समझते हैं, जिसके करने से समाज में प्रतिष्ठा होती है, उसके करनेवाले बहुत मिल जाते हैं। इसलिये उन्हें कम वेतन मिलता है। वे भी सोचते हैं कि वेतन कुछ कम मिला, तो क्या हुआ, समाज में हमारी प्रतिष्ठा तो होती है। इस प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा उनके वेतन की कमी को पूरा कर देती है।

उदाहरण लीजिए। कुछ आदमी सरकारी दफ़्तरों की नौकरी इस विचार से अच्छी समझते हैं कि लोग उन्हें 'बाबूजी' कहा करें, और वे कुर्सी पर बैठकर काम करनेवाले 'भद्र पुरुषों' की गणना में आ सकें।*

* [illegible]

है। इस प्रकार काम करनेवालों को निरंतर काम मिलने का निश्चय नहीं होता। बहुधा बेकार भी रहना पड़ता है। इस विचार से वे अधिक वेतन लेते हैं।

व्यवसाय में विश्वसनीयता आदि विशेष गुण की आवश्यकता—डाकख़ाने, बैंक या ख़ज़ाने आदि का काम ऐसा है, जिसमें यद्यपि विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, तथापि विश्वसनीयता आदि गुणों की बहुत ज़रूरत होती है, और ये गुण बहुत कम लोगों में मिलते हैं। * अतः इन कार्यों के करनेवालों में जैसी योग्यता चाहिए, वैसी ही योग्यता के अन्य कार्यकर्ताओं की अपेक्षा ख़ज़ानची आदि को अधिक वेतन मिलता है।

निश्चित वेतन के अतिरिक्त कुछ और प्राप्ति की आशा—देहातों की अथवा पुरानी परिपाटी से चलनेवाली शहरों की पाठशालाओं में अध्यापक अपेक्षाकृत कम वेतन पर कार्य करते हैं। कारण, उन्हें समय-समय पर विद्यार्थियों के यहाँ से "सीधा" (कुछ आटा, दाल, नमक और घी आदि) तथा मौसमी फल या अन्य कृषि-जन्य पदार्थ मिलते रहते हैं। शहरों की आधुनिक शैली के कारण स्कूलों में मास्टरों को ऐसी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये वे अपेक्षतः अधिक वेतन लेते हैं।

पुलीस-विभाग के निम्न पदाधिकारियों (कांस्टेबल आदि) का वेतन यद्यपि प्रायः कम होता है, तथापि कुछ लोग सोचते हैं कि जन-साधारण का हमसे काम पड़ेगा, उन पर हमारा रोब-दाब रहेगा, और समय-समय पर 'ऊपर की आमदनी' (जो भेंट या रिश्वत का एक सुंदर नाम है) मिलने के अवसर आते रहेंगे। इसलिये वे बहुधा

* ज़मानत देने से विश्वसनीयता हो जाती है; परंतु ज़मानत देने की सामर्थ्य भी तो कम ही लोगों में होती है।

से घनिष्ठ संबंध है । सुदीर्घ युद्ध-काल या नए उपनिवेशों को छोड़कर साधारणतः मनुष्यों की संख्या जितनी अधिक होती है, मज़दूरी की दर उतनी ही कम हो जाती है। इसलिये विविध देशों में, समय-समय पर, जन-संख्या कम करने के उपाय किए जाते हैं । अविवाहित रहकर, बड़ी उमर में विवाह करके, जान-बूझकर संतान कम पैदा करके, अथवा कुछ आदमी विदेशों में भेजकर जन-संख्या की वृद्धि रोकी जाती है। शिक्षा, सभ्यता और सुख की वृद्धि से संतानोत्पत्ति कम होती है।

भारतवर्ष की जन-संख्या पर्याप्त है। यद्यपि प्रकृति महँगी और रोगों द्वारा यहाँ संहार का कार्य खूब करती है, तथापि संतानोत्पत्ति भी अधिक होने के कारण यहाँ की जन-संख्या घटती नहीं है। जीविका-प्राप्ति के मार्ग कम और जन-संख्या अधिक होने के कारण, यहाँ मज़दूरी की दर, अन्य देशों की अपेक्षा, बहुत कम है। इसलिये मज़दूरों की दशा सुधारने के लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि उनकी योग्यता बढ़ाने और उद्योग-धंधों की वृद्धि करने के अतिरिक्त यहाँ की जन-संख्या यथाशक्ति कम की जाय । यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है—उपनिवेशों में बसकर, और संतानोत्पत्ति कम करके । पराधीन होने के कारण यहाँ के आदमी एक बड़ी संख्या में बाहर नहीं जा सकते । फिर जो जाते भी हैं, उनकी दुर्दशा देखकर दूसरे आदमी हतोत्साह हो जाते हैं । अतएव यहाँ जहाँ तक हो सके, संतानोत्पत्ति कम करने का प्रयत्न होना चाहिए। जो लोग आजीवन ब्रह्मचारी रहकर देश-सेवा में लगें, वे धन्य हैं। इसके अतिरिक्त (क) रोगी और दरिद्र यथासंभव विवाह न करें, (ख) बाल-विवाह, वृद्ध विवाह और बहु-विवाह न हों, (ग) विवाहित स्त्री-पुरुष भी यथाशक्ति संयमी रहें, और उचित समय पर गृहस्थाश्रम त्याग, वानप्रस्थ और संन्यास धारण करें।

The Human Needs of Labour प्रकाशित हुई थी। उससे मालूम होता है कि इँगलैंड के राउंट्री महाशय ने यहाँ, यार्कनगर में, निम्नलिखित नियमों के अनुसार मज़दूरी निश्चित की है*—

(१) यह मान लिया गया है कि प्रत्येक कुटुंब में प्रायः एक पुरुष, एक स्त्री और तीन लड़के रहते हैं।

(२) मज़दूरी इतनी होनी चाहिए कि मज़दूर उससे अपने कुटुंब का साधारण रीति से पालन-पोषण कर सके। वह स्त्री और बच्चों की मज़दूरी को कुटुंब की आमदनी में शामिल नहीं करते। उनका कहना है कि कुटुंब के बढ़ने पर स्त्रियों को, अपने घरों का काम करने के बाद, न तो समय ही रहता है, और न शक्ति ही। इसलिये उनसे मज़दूरी नहीं कराई जानी चाहिए। और, लड़कों से तो स्कूलों में पढ़ने के अतिरिक्त मज़दूरी कराना बहुत ही अनुचित है।

(३) मज़दूरों का निवास-स्थान काफ़ी हवादार होना चाहिए, और उसमें एक कुटुंब के लिये कम-से-कम एक बड़ा कमरा, तीन सोने के कमरे और एक रसोई-घर होना चाहिए।

(४) मज़दूरों के अन्य आवश्यक ख़र्चों का भी विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार उन्होंने, सन् १९१४ ई० में, एक मज़दूर की मज़दूरी ५ शिलिंग या लगभग तीन रुपए नव आने निश्चित की थी। यदि इन्हीं नियमों के अनुसार भारत के मज़दूर की प्रतिदिन की कम-से-कम मज़दूरी निश्चित की जाय, तो मामूली शहरों में वह डेढ़ रुपए से कम न बैठेगी। परंतु वे इससे बहुत कम पाते हैं।

---

* श्रीशारदा, चैत्र १९७८ के आधार पर।

२५ लाख मज़दूरों ने भाग लिया । फिर बहुत-सी हड़तालों की तो ख़बर ही नहीं मिलती । वे जहाँ-की-तहाँ शांत कर दी जाती हैं ।

वास्तव में हड़ताल एक युद्ध-घोषणा है । मज़दूरों को इसे अपना अंतिम अस्त्र समझना चाहिए । यदि बिना काफ़ी विचार किए इसका बार-बार उपयोग किया जाय, तो यह यथेष्ट फलप्रद नहीं होती ।

श्रमजीवी-संघ—भारतवर्ष में पहले एक-एक व्यवसाय करने-वालों की लुहार, बढ़ई आदि एक-एक संगठित जाति थी । किंतु अब व्यवसाय और जाति का संबंध शिथिल होता जा रहा है, और स्वतंत्र व्यवसायियों की अपेक्षा कल-कारख़ानों में काम करने-वाले मज़दूरों की संख्या बढ़ती जा रही है ।

अब क्रमशः मज़दूरों को यह अनुभव होने लगा है कि यदि हम बिना संगठन के अलग-अलग काम करेंगे, और कम मज़दूरी स्वीकार करने के संबंध में आपस में प्रतियोगिता करेंगे, तो कारख़ाने का मालिक हमारी फूट से लाभ उठावेगा, और कम-से-कम मज़दूरी देगा । इसलिये हमें मिलकर काम करना चाहिए । इस विचार से अब मज़दूर अपना एक संगठित संघ बनाते हैं । संघ के सभासद् नियमानुसार चंदा देकर एक कोष स्थापित कर लेते हैं । जब कोई सभासद् बीमार पड़ जाता है, या किसी दुर्घटना, हड़ताल आदि के कारण काम करने-योग्य नहीं रहता, तो उसे इस कोष से सहायता दी जाती है । यदि किसी के व्यवसायोपयोगी औज़ार आदि नष्ट हो जाते हैं, तो वे ख़रीद दिए जाते हैं । यह संघ मज़दूरों के सुधार, शिक्षा, मनोरंजन और स्वास्थ्य आदि के विषय में यथाशक्ति ध्यान देता रहता है । मज़दूरी की दर ऊँची रखने के लिये कभी-कभी छोटे-छोटे श्रमजीवी संघ इस बात की कोशिश भी करते हैं कि उनके यहाँ काम करनेवालों की संख्या

बड़ी खूबी से चल रहा है। चंदे का रुपया बराबर वसूल किया जाता है। आशा है, थोड़े ही दिनों में यहाँ की मिलों में काम करनेवाले सब लोग संघ में शामिल हो जायँगे।

अहमदाबाद के अतिरिक्त करांची और मद्रास के रेलवालों तथा शोलापुर के रुई की मिलवालों का संघ विशेष उल्लेखनीय है।

किंतु मद्रास-बंबई के बाहर मज़दूर-संघों का इतना ज़ोर नहीं रहा। बड़े रेलवे-लाइनों तथा कारख़ानों के कर्मचारियों ने समय-समय पर बड़ी बड़ी हड़तालें कीं, कुछ सफलता भी प्राप्त की, मज़दूर-सभाएँ स्थापित कीं, परंतु संगठन-कार्य विशेष स्थायी नहीं हुआ।

अंतरराष्ट्रीय मज़दूर-कान्फ्रेंस—विश्व-व्यापी संग्राम ने मज़दूर-दल का ज़ोर और भी बढ़ा दिया। संधि के नियमों के अनुसार राष्ट्रसंघ ने एक अंतरराष्ट्रीय मज़दूर-कान्फ्रेंस स्थापित की है, जिसमें मज़दूरों की दशा सुधारने के उपायों पर विचार होता है। सन् १९२८ ई० तक इस कान्फ्रेंस के ग्यारह अधिवेशन हो चुके हैं। इस कान्फ्रेंस की प्रबंध-समिति में कुल २४ सदस्य हैं—६ मालिकों के, ६ मज़दूरों के और शेष १२ सदस्य भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों द्वारा चुने हुए। इन बारह में आठ का निर्वाचन संसार के आठ बड़े बड़े औद्योगिक राष्ट्रों की सरकारों के प्रतिनिधियों द्वारा और चार का अन्य देशों की सरकारों के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। बहुत कुछ प्रयत्न होने से संसार के आठ बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्रों की सूची में भारतवर्ष भी सम्मिलित किया गया है, और अंतरराष्ट्रीय मज़दूर-कान्फ्रेंस की प्रबंध-समिति में अब इसका भी प्रतिनिधि रहता है। किंतु यह प्रतिनिधि भारतीय मज़दूरों के हितों का पोषण पूर्णरूप से तभी हो सकता है, जब यहाँ देश-भर के मज़दूर-दल की एक संगठित संस्था हो।

भाग जाय, और काम न करे, तो वह अभी फ़ौजदारी-सिपुर्द किया जा सकता है। इससे मज़दूरों की हालत शर्त-बंद कुलियों की-सी हो जाती है। इसे दूर करने का विचार हो रहा है।

संक्षेप में, सरकार मज़दूरों के प्रश्न की ओर कुछ ध्यान देने लगी है। प्रत्येक प्रांतिक सरकार की ओर से मज़दूरों की अवस्था की जाँच का भी प्रबंध हो रहा है। अब सरकार यह स्वीकार कर चुकी है कि देश की औद्योगिक उन्नति के लिये मज़दूरों का संगठन उतना ज़रूरी है, जितना कि पूँजीवाले। परंतु अभी बहुत-सा काम बाक़ी है।

कांग्रेस का ध्यान—जैसे-जैसे देश में मज़दूरों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे यह मालूम होने लगा है कि बिना मज़दूरों को स्वराज्य मिले और उनकी आर्थिक दशा सुधरे भारतवर्ष को वास्तविक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। कुछ समय से कांग्रेस ने भी इस ओर ध्यान देना आरंभ कर दिया है।

इसी उद्देश्य से गया की कांग्रेस (१९२२) में यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था—"इस कांग्रेस की यह राय है कि हिंदोस्तान के मज़दूरियों को—उनके आराम और सुख की वृद्धि के लिये, उनके अधिकारों की रक्षा करने और उनको तथा देश की व्यावसायिक सामग्री को विदेशी पूँजीपतियों द्वारा लूटे जाने से बचाने के लिये—संगठित करना चाहिए। इसलिये यह महासभा अखिल भारतीय मज़दूर-संघ का, और बहुत सी किसान-सभाओं ने इस संबंध में जो कार्य करना आरंभ किया है, उसका स्वागत करती है।"

कांग्रेस द्वारा एक कमेटी बनाई गई है, जो मज़दूरियों तथा किसानों के संगठन में सहायता पहुँचावेगी।

विशेष वक्तव्य—अन्यान्य औद्योगिक देशों की तुलना में, भारतवर्ष में, मज़दूरों और किसानों के संगठन बहुत कम हैं, और उनकी वृद्धि की बड़ी आवश्यकता है। परंतु स्मरण रहे, वे जिनके स्वार्थ-

सूद पर रुपया देने से लाभ—सूद पर रुपया उधार देना साधारणतः उतना लाभदायक नहीं, जितना उसे व्यापार-व्यवसाय में लगाना। परंतु यह इससे तो अच्छा ही है कि वह व्यर्थ पड़ा रहने दिया जाय। सूद पर रुपया उधार देनेवाला औरों को धनोत्पादन में सहायता देता है। इससे उसका धन (सूद द्वारा) बढ़ता है, और जिन्हें वह उधार देता है, उनका भी। पूँजी का व्यवहार जारी रहने के कारण देश के धनोत्पादन-कार्य में वृद्धि होती है। जिसकी पूँजी थी, उसने उसका व्यवहार न किया, तो दूसरों ने तो किया। पूँजी व्यर्थ तो न पड़ी रही।

रुपया सूद पर उठने से मजदूरी की दर बढ़ती है। जो लोग दूसरों की पूँजी के सहारे अपने परिश्रम से धनोत्पादन करते हैं उन्हें जब देश में व्यवहृत पूँजी की अधिकता के कारण सूद कम देना पड़ेगा, तो उनकी मिहनत का प्रतिफल अर्थात् मजदूरी की रकम अधिक बच रहेगी।

पूँजी की वृद्धि के कारण जब सूद पर रुपया उठाना कम लाभदायक रह जाता है, तो महाजन कुछ अधिक लाभ की आशा होने पर कभी-कभी स्वयं स्वतंत्र रूप से अथवा दूसरों को साथ बनाकर, रोजगार करने का साहस करने लगते हैं। इस प्रकार व्यापार-व्यवसायों की वृद्धि होने और नए कल-कारखाने खुलने के कारण मजदूरों की माँग बढ़ती है। फलतः इससे भी मजदूरी की दर बढ़ती है।

सूद के दो भेद—अर्थशास्त्र की दृष्टि से ब्याज के दो भे[द] हैं—कुल (Gross) सूद, और वास्तविक (Net) सूद। कु[ल] सूद में असली ब्याज के अतिरिक्त (क) पूँजीपति के जोखिम उठाने का प्रतिफल, (ख) काम की व्यवस्था करने का पु[रस्कार] और (ग) पूँजीपति की विशेष सुविधाओं का प्रतिफल सम्मि[लित]

ऋण-दाता—भारतवर्ष के बैंकों का वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। अब अन्य ऋण-दाताओं का उल्लेख किया जाता है।

देहातों में बनिए या महाजन कृषि के लिये पूँजी उधार देते हैं। कभी-कभी अनुत्पादक कार्य या फ़िज़ूल-ख़र्ची के वास्ते भी उनसे ऋण लिया जाता है। सरकार भी अकाल के समय बहुधा किसानों को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदने के लिये, सन् १८८३ और १८८४ ई० के ऐक्ट के अनुसार, 'तक़ावी' देती और इस रुपए को अच्छी फ़सल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किंतु राजकर्म-चारियों का समुचित व्यवहार न होने के कारण इस तरीक़े में विशेष सफलता नहीं हो रही है। फिर रक़म भी, कृषकों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी जाती है।

शहरों में सेठ-साहूकार जायदाद रेहन करके अथवा ज़ेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। कभी-कभी वे व्यापारियों और दस्तकारों की भी सहायता करते हैं।

ज़मींदार, मंदिरों के महंत या अन्य पेशेवाले लोग भी सूद की आमदनी के लिये रुपया उधार देते हैं।

शहरों के कितने ही साहूकार अपने पास रेहन रक्खी हुई ज़मीन को मोल लेकर ज़मींदार बन गए हैं। मुसलमानों के यहाँ ब्याज लेने का, धार्मिक दृष्टि से, निषेध है; परंतु कुछ स्थानों के निम्न श्रेणी के मुसलमान इसमें संकोच नहीं करते। पेशावरी अफ़ग़ान अधिकतर सौदागरी के साथ सूद-ख़ोरी भी करते रहते हैं।

भारतवर्ष में सूद की दर—यहाँ सूद की दर, पूँजी बहुत कम होने के कारण, अधिक है। साधारण उत्पादक के पास अपनी निजी पूँजी नहीं होती। उसे सूद की भयंकर दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है। अनेक स्थानों में अधन्नी रुपए का साधारण नियम है।

ऋण-दाता—भारतवर्ष के बैंकों का वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। अब अन्य ऋण-दाताओं का उल्लेख किया जाता है।

देहातों में बनिए या महाजन कृषि के लिये पूँजी उधार देते हैं। कभी-कभी अनुत्पादक कार्य या फ़िज़ूल-ख़र्ची के वास्ते भी उनसे ऋण लिया जाता है। सरकार भी अकाल के समय बहुधा किसानों को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदने के लिये, सन् १८८३ और १८८४ ई० के ऐक्ट के अनुसार, 'तक़ावी' देती और इस रुपए को अच्छी फ़सल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किंतु राजकर्म-चारियों का समुचित व्यवहार न होने के कारण इस तरीक़े में विशेष सफलता नहीं हो रही है। फिर रक़म भी, कृषकों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी जाती है।

शहरों में सेठ-साहूकार जायदाद रेहन करके अथवा ज़ेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। कभी-कभी वे व्यापारियों और दस्तकारों की भी सहायता करते हैं।

ज़मींदार, मंदिरों के महंत या अन्य पेशेवाले लोग भी सूद की आमदनी के लिये रुपया उधार देते हैं।

शहरों के कितने ही साहूकार अपने पास रेहन रक्खी हुई ज़मीन को मोल लेकर ज़मींदार बन गए हैं। मुसलमानों के यहाँ व्याज लेने का, धार्मिक दृष्टि से, निषेध है; परंतु कुछ स्थानों के निम्न श्रेणी के मुसलमान इससे संकोच नहीं करते। पेशावरी अफ़ग़ान अधिकतर सौदागरी के साथ सूद-खोरी भी करते रहते हैं।

भारतवर्ष में सूद की दर—यहाँ सूद की दर, पूँजी बहुत कम होने के कारण, अधिक है। साधारण उत्पादक के पास अपनी निजी पूँजी नहीं होती। उसे सूद की भयंकर दर पर रुपए उधार लेना पड़ता है। अनेक स्थानों में [illegible] रुपए तक साधारण [illegible] है।

मिश्रित धनवाली समितियों को यथेष्ट वृद्धि से ही इन लोगों की विशेष रक्षा होगी।

चौथा परिच्छेद

मुनाफ़ा

मुनाफ़ा—किसी उत्पन्न पदार्थ से उसके उत्पादन का सब व्यय—लगान, मज़दूरी और सूद—निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफ़ा है। यह व्यवस्था (Orgaॅnisation) का प्रतिफल है। व्यवस्था मे प्रबंध और साहस, दोनों सम्मिलित हैं, यह पहले बताया जा चुका है। कुछ महाशय 'प्रबंध की कमाई' * का विचार स्वतंत्र रूप से करते हैं। इस दशा में मुनाफ़ा केवल साहस करने या जोखिम उठाने का प्रतिफल रह जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहुधा कारख़ानेवाले श्रम (एवं उत्पत्ति के अन्य साधनों) का प्रतिफल कम-से-कम देकर बहुत लाभ उठाते हैं। इससे धन-वितरण में धन का बड़ा भाग मुनाफ़े के रूप में रहता है। इसका सामाजिक स्थिति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका विचार अगले परिच्छेद में किया जायगा।

किंतु कुछ कामों में मुनाफ़े का सहसा हिसाब नहीं लग सकता।

---

* प्रबंधक या मैनेजर का कार्य धनोत्पादन में एक आवश्यक अंग है। वह अन्य श्रमजीवियों के काम की देखभाल करता है। उसका यह कार्य एक श्रमजीवी के कार्य के ढंग से दूसरे ढंग का है। इसलिये हम उसकी आय को, जो बहुधा निश्चित होती, और प्रतिमास मिलती है, वास्तव में मज़दूरी नहीं कह सकते। मज़दूरी से उसका भेद दिखाने के लिये अर्थ-शास्त्र में उसे एक पृथक् संज्ञा दी जाती है। इसे प्रबंध की कमाई (Earnings of management) कहते हैं।

मिश्रित धनवाली समितियों की यथेष्ट वृद्धि से ही इन लोगों की विशेष रक्षा होगी।

चौथा परिच्छेद

मुनाफ़ा

मुनाफ़ा—किसी उत्पन्न पदार्थ से उसके उत्पादन का सब व्यय—लगान, मज़दूरी और सूद—निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफ़ा है। यह व्यवस्था (Organisation) का प्रतिफल है। व्यवस्था में प्रबंध और साहस, दोनों सम्मिलित हैं, यह पहले बताया जा चुका है। कुछ महाशय 'प्रबंध की कमाई' * का विचार स्वतंत्र रूप से करते हैं। इस दशा में मुनाफ़ा केवल साहस करने या जोखिम उठाने का प्रतिफल रह जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहुधा कारख़ानेवाले श्रम (एवं उत्पत्ति के अन्य साधनों) का प्रतिफल कम-से-कम देकर बहुत लाभ उठाते हैं। इससे धन-वितरण में धन का बड़ा भाग मुनाफ़े के रूप में रहता है। इसका सामाजिक स्थिति पर जो प्रभाव ... का विचार अगले परिच्छेद में किया जायगा।

नहीं लग सकता।

आवश्यक कर है।
। इसका यह कोई एक
इसलिये हम उसको
लिखते हैं, वरना के
रिश्ते के लिये कई.
है प्रबंध की कमाई
है।

(ग) खाने-पीने की चीज़ें सस्ती हो जाना।

क़ीमत बढ़ने या देश में महँगी होने से मुनाफ़ा हो होगा, यह समझना भूल है। जन-संख्या की वृद्धि अथवा विदेशी माँग के कारण, खेती में पैदा होनेवाले अन्न आदि की खपत बढ़ने से निकृष्टतर ज़मीन में खेती करनी पड़ती है। यह बात मज़दूरी आदि का ख़र्च बढ़ाए बिना नहीं हो सकती, और उत्पादन-व्यय बढ़ने से चीज़ों की क़ीमत का बढ़ना तथा देश में महँगी का होना स्वाभाविक ही है। इससे कारतकारों को लाभ थोड़ा ही होता है। उनका तो ख़र्च ही मुश्किल से निकलता है। पुनः जो चीज़ें कलों की सहायता से बनती हैं, उनकी खपत बढ़ने से मुनाफ़ा अधिक होता है; क्योंकि माल जितना अधिक तैयार होगा, ख़र्च का अनुपात उतना ही कम पड़ेगा। इस प्रकार क़ीमत कम आने पर भी मुनाफ़ा अधिक हो सकता है।

(२) मुनाफ़े का समय से भी गहरा संबंध है। माल बिककर मुनाफ़ा मिलने में जितना ही कम समय लगेगा, मुनाफ़े की दर उतनी ही अधिक होगी। और, जितना ही समय अधिक लगेगा, मुनाफ़े की दर उतनी ही कम होगी।

(३) मज़दूरी की दर कम होने से मुनाफ़ा अधिक और मज़दूरी अधिक पड़ने से मुनाफ़ा कम हो जाता है। कारख़ानेवाले अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा चाहते हैं, और मज़दूर अधिक-से-अधिक मज़दूरी। इसलिये उन दोनों में बहुधा पारस्परिक हित-विरोध रहता है। इसका अन्यत्र प्रसंगानुसार वर्णन किया गया है।

(४) कारख़ानेवालों की बुद्धिमानी, दूरंदेशी और प्रबंध करने की योग्यता पर भी मुनाफ़े की कमी-बेशी बहुत कुछ निर्भर है। देश में अयोग्य कारख़ानेवालों की संख्या अधिक होने से चतुर कारख़ाने के मालिकों के मुनाफ़े की मात्रा बढ़ जाती है। शिक्षा और कला-कौशल की वृद्धि के साथ-साथ अयोग्य कारख़ानेवालों की संख्या कम होती

छोड़कर अन्य कोई लाभकारी कार्य क्यों नहीं करने लगते ? परंतु उन बेचारों को ऐसा करने की सुविधाएँ हों, तब न। हमारे अनेक किसानों की पूँजी प्रायः नहीं के बराबर होती है। बहुतेरे ऋण-ग्रस्त रहते हैं। शिक्षा का अभाव और संकुचित विचारों तथा अंधविश्वास की प्रधानता उनकी उन्नति में बहुत बाधक होती है। इसलिये वे बेचारे वर्षों और बहुधा पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक बिना मुनाफ़े के ही कृषि-कार्य करते रहते हैं, जिसमें उन्हें अपने (अकुशल) श्रम की मामूली-सी मज़दूरी मिल सके। किसी अन्य उद्योग-धंधे के करने की योग्यता न होने के कारण वे और कामों में उतनी भी मज़दूरी पाने की आशा नहीं रखते।

कृषि-साहूकार का मुनाफ़ा—यहाँ महाजन या बनिए किसानों को रुपया उधार देते हैं, और उसके बदले में, फ़सल तैयार होने के समय, बाज़ार से कुछ सस्ते भाव पर, अन्न आदि लेते हैं। इसी में उनका सूद भी आ जाता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि ऋण देते समय ही पदार्थ का यह भाव ठहर जाता है, जिस पर किसान अपना माल महाजनों को देते हैं। उक्त मोल लिए हुए पदार्थ को महाजन अपने यहाँ जमा रखते हैं, और फ़सल के पश्चात्, जब उसका भाव चढ़ जाता है, तब धीरे-धीरे बेचते हैं। दरिद्र और अदूरदर्शी किसान अपनी आवश्यकताओं, विवाह-सगाई आदि की रीति-रस्मों और सरकारी लगान आदि चुकाने के लिये, प्रायः इतना माल बेच डालते हैं कि कुछ समय के बाद स्वयं उन्हीं को कुछ माल बनिए से, महँगे भाव पर, ख़रीदना पड़ जाता है। अस्तु। इस क्रय-विक्रय से महाजन मुनाफ़ा लेता है।

शिल्प-साहूकार का मुनाफ़ा—पहले छोटी मात्रा की उत्पत्ति की दशा में बहुत से कारीगर अपनी-अपनी पूँजी से स्वतंत्र कार्य करते थे। उसके वे स्वयं ही निरीक्षक या व्यवस्थापक भी होते थे।

है, जो भारतवर्ष में आती हो, तो अधिकांश मुनाफ़ा इन्हीं सौदागरों को होता है। भारतवर्ष के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को बहुधा बहुत समय पीछे विदेशों के भाव का पता लगता है।

कल-कारख़ानेवालों का मुनाफ़ा—इनके मुनाफ़े की मात्रा ख़ूब होती है। मज़दूर बहुधा इनके हाथ की कठपुतली ही रहते हैं, और साधारण वेतन पर कार्य करने के लिये बाध्य होते हैं। यदि मज़दूर कभी हड़ताल भी करें, तो पूँजीपति भूखे नहीं मरेंगे, चाहे उनका कारख़ाना दस-पाँच दिन बंद ही क्यों न रहे। पर बेचारे मज़दूर क्या करेंगे? उनके पास इतनी पूँजी कहाँ कि दो चार रोज़ भी बैठ सकें, और मज़े में बाल-बच्चों-समेत खाते-पीते रहें। इसलिये उनका कष्ट बहुत अधिक होता है *।

कारख़ानेवाले अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा सुसंगठित करने के लिये समितियाँ (Millowners Associations) बना लेते हैं। तब वे और भी अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। वे सदैव यही सोचा करते हैं कि अधिकाधिक मुनाफ़ा पावें, और धनी बनें।

पुस्तक-प्रकाशकों का मुनाफ़ा—अँगरेज़ी तथा देशी भाषाओं की पुस्तकें प्रकाशित करनेवाले महाशय भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक मुख्य नगर में हैं। इनकी संख्या तथा इनके द्वारा साहित्य का प्रचार बढ़ रहा है, यह देशोन्नति का चिह्न है। परंतु हमें यहाँ इनको मिलनेवाले मुनाफ़े पर विचार करना है। प्रायः लेखक बहुत निर्धनता का जीवन व्यतीत करनेवाले होते हैं। वे अपने श्रम का प्रतिफल पाने

---

* कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यवसाय-पति (कारख़ानों के फाटक में ताला लगाकर) मज़दूरों का आना रोक देते हैं, जिससे मज़दूरों पर उनका प्रभुत्व बना रहे, और वे अधिक मज़दूरी या अवकाश आदि न माँगें। इसे द्वारावरोध (Lock out) कहते हैं।

पाँचवाँ परिच्छेद

सामाजिक स्थिति

धन-वितरण और समाज—समाज की प्रारंभिक अवस्था में लोगों को स्वामित्व या मिलकियत का विचार नहीं था। किसी को किसी चीज़ के संबंध में अपने और पराए का कुछ ध्यान भी न था। उस समय समानता का विचित्र युग था, न कोई ज़मींदार था, न महाजन, न मज़दूर। राजा और प्रजा का भी भेद-भाव न था। किंतु सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ स्वामित्व का भाव भी धीरे-धीरे समाज में बढ़ने लगा। तब संपत्ति का भी वितरण होने लगा।

वर्तमान अवस्था में जिसकी ज़मीन है, वही यदि पूँजी भी लगावे, और मिहनत भी करे, तो धनोत्पत्ति में इन तीनों साधनों का प्रतिफल पाने का वही एक-मात्र अधिकारी हो। हाँ, सरकार कुछ कर अवश्य लेगी। भारतवर्ष में तो सरकार ने ज़मीन पर अपना ही अधिकार समझ रक्खा है। यदि यहाँ कोई आदमी ज़मीन पर अपनी पूँजी और मिहनत भी लगावे, तो भी सरकार उत्पन्न धन में से एक अच्छा हिस्सा लगान के नाम से ले ही लेगी।

धन का असमान वितरण और उसका परिणाम—इस समय भिन्न-भिन्न देशों में एक ओर तो मुट्ठी-भर आदमी लखपती हो गए हैं, जिन्हें दिन-रात यही चिंता रहती है कि इतने धन का क्या करें। दूसरी ओर उनके असंख्य देशवासी भाई, घोर परिश्रम करने पर भी, पेट-भर भोजन अथवा शरीर-रक्षा के लिये आवश्यक वस्त्र तक नहीं पाते। इसीलिये तो संसार में तरह-तरह के आंदोलन हो रहे हैं। इँगलैंड में मज़दूर-दल का आंदोलन प्रसिद्ध ही है। जर्मनी में उसे साम्यवाद का नाम दिया गया है। रूस में उसे बोल्शेविज़्म कहा जाता है। भारतवर्ष में किसान बहुधा ज़मींदार,

व्यवसाय में सफलता होती है। फिर भी मैं भूखा मरता हूँ, मेरी मानसिक उन्नति नहीं होने पाती।

(४) मैं भी अपने देश का वैसा ही नागरिक हूँ, जैसा पूँजीपति। पूँजीपति राज्य को ऐसे कार्य में क्यों सहायता देता है, जिससे मेरा जन्म सिद्ध अधिकार मारा जाता है। क्या मैं देश के धनोत्पादन में दिन-रात पसीना नहीं बहाता ?"

उधर पूँजीपति कहता है—

"मेरे कारख़ाने में शारीरिक कार्य सबसे घटिया दर्जे का काम है, और मैं उसका वैसा ही प्रतिफल (मज़दूरी) दे देता हूँ। मज़दूरों की सहायता से बने हुए माल के लिये उपयुक्त मंडी मैं ही तलाश करके उसे वहाँ ले जाता हूँ। (पूँजीपति यहाँ यह भूल जाता है कि माल ले जाने के लिये रेल, जहाज़ आदि सब साधन मज़दूरों की सहकारिता से ही चलते हैं) मैं वैज्ञानिकों को अपने काम में लगाता हूँ। मैं पहले मज़दूरों की मज़दूरी चुकाता हूँ, उसके बाद नफ़ा मेरी जेब में आती है। बाज़ार के उतार-चढ़ाव, संसार की बड़ी घटनाएँ, स्वदेश या विदेश की माँग, नए फ़ैशन और नई आवश्यकताएँ आदि बातों से मुझे मुनाफ़ा मिलता है। इसमें मज़दूर कुछ नहीं करते। इसलिये उन्हें मेरे लाभ का कोई हिस्सा पाने का क्या अधिकार ? फिर भी मैं समय-समय पर उनकी मज़दूरी बढ़ाता रहता हूँ। लेकिन उनकी माँग हद से ज़्यादा बढ़ी हुई है। मैं जितना ही ज़्यादा दबता हूँ, उतना ही वे हड़ताल की धमकी अधिक देते हैं। मज़दूरों के नेता शांति से विचार करें। उनकी उचित शिकायतें सुनने और उन्हें दूर करने को मैं सदा तैयार हूँ। लेकिन वे वृथा ही मुझसे द्वेष करें, तो इसका क्या इलाज ?"

और, अब राज्य कहता है—

"मज़दूरों के काम करने के घंटे हमने कम कर दिए हैं। उनके

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कल-कारखानों में। दूसरा कारण यह मालूम पड़ता है कि पहले पूँजीपतियों और निर्धनों की एक दूसरे के विरुद्ध दलबंदी नहीं थी, वरन् एक बड़ी गृहस्थी के सदस्यों की भाँति वे आपस में यथेष्ट सहानुभूति और प्रेम रखते थे। धनिकों को अपने धन का अभिमान नहीं था। वे अपने धन को सर्वसाधारण के उपयोग में लगाते थे। उनके बग़ीचे, पुस्तकालय, अजायबघर, धर्मशालाएँ आदि सबके लिये खुली थीं।

भारतवर्ष की वर्ण-व्यवस्था—इस संबंध में भारतवर्ष की वर्ण-व्यवस्था विशेष विचारणीय है। प्राचीन समय में यहाँ बुद्धिमान् मनुष्यों (ब्राह्मणों) का, धन-हीन होने पर भी, यथेष्ट सम्मान था। उन्हीं का परामर्श लेकर राजा भी अपना कार्य करता था। क्षत्रिय धनवान् न होने पर भी शक्तिशाली थे, और वे उसी में सुखी थे। वैश्य धनवान् होते थे; परंतु जब वे अपने धन से औरों का उपकार करते रहते थे, तो किसी को उनसे ईर्ष्या क्यों होती? शूद्र शारीरिक श्रम करते थे; परंतु अपने भोजन-वस्त्र आदि के लिये आजकल की तरह तरसते न रहकर पूर्ण रूप से निश्चित रहते थे। ऐसी अवस्था में समाज के एक अंग को दूसरे से स्पर्द्धा नहीं हो सकती थी।

पर अब भारतवर्ष का प्राचीन आदर्श लुप्तप्राय हो गया है। तो भी आधुनिक सभ्यता की चकाचौंध में आकर हमें प्राचीन आदर्श के सद्गुण न भुला देने चाहिए। आधुनिक सभ्यता के भौतिकवाद (Materialism) में धनी मनुष्य दूसरों के हिताहित की चिंता नहीं करता। और, सब लक्ष्मी की बेढब पूजा करने को तत्पर हैं। इसी से पारस्परिक स्पर्द्धा, ईर्ष्या और कलह है। इसीलिये बहुत से तत्ववेत्ता इस सभ्यता का मूलोच्छेद करने की चेष्टा कर रहे हैं।

धन-वितरण-पद्धति में सुधार—निस्संदेह उत्पन्न धन में उसके विविध उत्पादकों को यथाशक्ति समानाधिकार मिलने से

सकता। संभवतः इसका यह प्रभाव अवश्य होगा कि फिर लोगों में ज़्यादा धन-संग्रह करने और बड़े-बड़े पूँजीपति बनने की अभिलाषा कम हो जायगी, और समाज में, धन-वितरण की दृष्टि से, कुछ अधिक समानता आ जायगी। इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि भारतवर्ष के प्राचीन गृह-शिल्प के आदर्श से इस समय किस प्रकार और कितना लाभ उठाया जा सकता है।

सातवाँ खंड

भारतीय राजस्व

पहला परिच्छेद

स्थानीय राजस्व

प्राक्कथन—हम पहले खंड में कह आए हैं कि आधुनिक देशों में राजसत्ता का अस्तित्व अनिवार्य है। यदि उचित राज्य-प्रबंध न हुआ, तो जान-माल का डर बना रहने के कारण लोग बहुत कम धन पैदा करेंगे, और जो कुछ करेंगे भी, उसे शीघ्र उपभोग कर डालने अथवा छिपाकर रखने का प्रयत्न करेंगे। देश की आर्थिक दशा अच्छी नहीं रहेगी। इसीलिये राज्य-प्रबंध की प्रत्येक देश में आवश्यकता होती है।

देश-काल की परिस्थिति के अनुसार राज्य को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इनमें बहुत-सा रुपया भी ख़र्च होता है। इसे राज्य तरह-तरह के टैक्स लगाकर वसूल करता है।

भारतवर्ष में राजस्व * से संबंध रखनेवाले तीन अधिकारी हैं—

(१) स्थानीय स्वराज्य-संस्थाएँ,

(२) प्रांतीय सरकार,

(३) केंद्रीय सरकार।

ये सब मिलकर प्रतिवर्ष सवा दो सौ करोड़ रुपए से अधिक ख़र्च करती हैं, और लगभग इतनी ही रक़म विविध टैक्सों से वसूल करती हैं। इससे भारतीय राजस्व का महत्त्व भली भाँति समझ में आ

---

* राजस्व का अर्थ राजकर या राज्य का आय-व्यय है। कुछ महाशय राजस्व से विशेषतः आय का ही अभिप्राय लेते हैं। परंतु हम इसके विवेचन में आय और व्यय, दोनों का ही विचार आवश्यक समझनेवाले ग्रंथकारों से सहमत हैं।—लेखक।

कार्य भी म्युनिसिपैलिटियों के सिपुर्द था । पर अब यह उनसे वा
ले लिया गया है ।

कलकत्ता, मद्रास, बंबई और रंगून की म्युनिसिपैलिटियों
म्युनिसिपल-कारपोरेशन अथवा केवल कारपोरेशन कहते हैं । म्यु
सिपैलिटियों और कारपोरेशनों का काम लगभग एक ही प्रकार
है । परंतु कारपोरेशनों का कार्य-क्षेत्र विस्तृत है ।

म्युनिसिपैलिटियों और कारपोरेशनों की आय के साधन-
म्युनिसिपैलिटियों और कारपोरेशनों की आय के मुख्य द्वार नि
लिखित हैं—

(क) चुंगी (अधिकतर उत्तर-भारत, बंबई और मध्यप्रदेश में)-
यह म्युनिसिपैलिटी की सीमा के अंदर आनेवाले माल तथा आन
पर लगती है ।

(ख) मकान और ज़मीन पर टैक्स (मद्रास, बंबई, बंगा
मध्य-प्रांत आदि में)—यह सालाना किराए पर ८॥) फ़ी सदी
अधिक नहीं लगाया जा सकता ।

(ग) व्यापार-धंधों पर टैक्स (अधिकतर मद्रास और संयु
प्रांत में) ।

(घ) हैसियत, जायदाद या जानवरों

(ङ) यात्री-कर (तीर्थ-स्थानों) ।

(च) सड़कों मद्रास

आसाम

मोटर त

: इसाईस

हो जाता है। उदाहरणार्थ, बंबई शहर को छोड़कर बंबई-प्रांत में कुल ख़र्च का २१ फ़ी सैकड़ा से अधिक तथा मध्यप्रांत-बरार में १५ फ़ी सैकड़ा से अधिक शिक्षा में व्यय होता है।

म्युनिसिपैलिटियों और कारपोरेशनों के क्षेत्र की जनता और उस पर कर—आगे के कोष्ठक से यह मालूम हो जायगा कि भिन्न भिन्न प्रांतों की म्युनिसिपैलिटियों और कारपोरेशनों की सीमा के भीतर कितनी जनता रहती है, और उस पर आदमी पीछे कितना कर लगता है—

म्युनिसिपैलिटियाँ और कारपोरेशन	म्युनिसिपल सीमा में जन संख्या	म्युनिसिपैलिटियों की संख्या	प्रत्येक आदमी पर म्युनिसिपल कर की औसत
			रु० आ० पा०
प्रेसीडेन्सी नगर			
कलकत्ता	६,०३,१७६	१	१२ ० ६
बंबई	६,७६,४४५	१	१४ ८ ६
मदरास	५,१८,६६०	१	६ १० ४
रंगून	३,८४,६३५	१	११ ० ६
ज़िला-म्युनिसिपैलिटियाँ			
बंगाल	२०,४३,५११	११५	२ ११ ०
बिहार-उड़ीसा	११,०४,६६८	५८	१ ६ ४
आसाम	१,६७,६००	१५	२ ५ ६
बंबई और सिंध	२५,६०,८२४	१५७	३ १३ ४
मदरास	२४,८२,०००	८१	२ ० ३
संयुक्तप्रांत	३३,८४,००६	८४	२ ५ ६
पंजाब	११,३१,५०६	१०१	४ २ ८
पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रांत	१,४१,६६८	६	६ २ ६
मध्यप्रांत बरार	६,३०,१०६	६०	२ १५ १
ब्रह्मदेश	७,३०,६०२	४०	२ १३ ०

लगान के साथ ही, प्रायः एक आना फ़ी रुपए के हिसाब से वसूल करके, इन बोर्डों को दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त विशेष कार्यों के लिये सरकार भी कुछ रक़म देती है। आय के अन्य द्वार तालाब, घाट और सड़क के महसूल हैं। सब-डिविज़नल बोर्डों की आय का कोई स्वतंत्र द्वार नहीं। उन्हें समय-समय पर ज़िला-बोर्डों से ही कुछ मिल जाता है। ज़िला-बोर्डों की समस्त आय लगभग १० करोड़ रुपए है। कहना न होगा कि यह आय ग्रामों की जन संख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए बहुत कम है। यही कारण है कि हमारे अधिकांश जन-समाज को अभी तक इन बोर्डों से यथेष्ट लाभ नहीं हो पाया है।

कुल ज़िला-बोर्डों की आय तथा व्यय प्रतिवर्ष लगभग १० करोड़ रुपए होता है।

पंचायतें *—पंचायतों की स्थापना और उन्नति का कार्य, अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार करने के लिये, प्रांतिक सरकारों पर छोड़ा गया है। भारत-सरकार ने उनसे सन् १९१८ ई० के एक मंतव्य में इसे बढ़ाने का अनुरोध किया था। प्रायः महदेश और मध्य-प्रांत में यह कार्य बहुत अवनत दशा में, और पंजाब, मदरास, बिहार-उड़ीसा, आसाम तथा संयुक्तप्रांत में यह अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था में है।

प्रत्येक पंचायत का एक ग्राम-कोष होता है। उसमें मुक़द्दमों की फ़ीस, जुर्माना और सरकार से दी हुई रक़म रहती है। प्रायः पंचायतें कलेक्टर की अनुमति से ग्राम-कोष की कोई रक़म, अपने क्षेत्र की उन्नति करने या उसके निवासियों को सुविधा पहुँचाने के लिये, ख़र्च कर सकती हैं।

---

* लेखक की 'भारतीय शासन' के आधार पर।

लगान के साथ ही, प्रायः एक आना फ़ी रुपए के हिसाब से वसूल करके, इन बोर्डों को दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त विशेष कार्यों के लिये सरकार भी कुछ रक़म देती है। आय के अन्य द्वार तालाब, घाट और सड़क के महसूल हैं। सब-डिविज़नल बोर्डों की आय का कोई स्वतंत्र द्वार नहीं। उन्हें समय-समय पर ज़िला-बोर्डों से ही कुछ मिल जाता है। ज़िला-बोर्डों की समस्त आय लगभग १० करोड़ रुपए है। कहना न होगा कि यह आय ग्रामों की जनसंख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए बहुत कम है। यही कारण है कि हमारे अधिकांश जन-समाज को अभी तक इन बोर्डों से यथेष्ट लाभ नहीं हो पाया है।

कुल ज़िला-बोर्डों की आय तथा व्यय प्रतिवर्ष लगभग १० करोड़ रुपए होता है।

पंचायतें *—पंचायतों की स्थापना और उन्नति का कार्य, अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार करने के लिये, प्रांतिक सरकारों पर छोड़ा गया है। भारत-सरकार ने उनसे सन् १९१८ ई० के एक मंतव्य में इसे बढ़ाने का अनुरोध किया था। प्रायः मदरास और मध्य-प्रांत में यह कार्य बहुत अवनत दशा में, और पंजाब, मदरास, बिहार-उड़ीसा, आसाम तथा संयुक्तप्रांत में यह अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था में है।

प्रत्येक पंचायत का एक ग्राम-कोष होता है। उसमें मुक़द्दमों की फ़ीस, जुर्माना और सरकार से दी हुई रक़म रहती है। प्रायः पंचायतें कलेक्टर की अनुमति से ग्राम-कोष की कोई रक़म, अपने क्षेत्र की उन्नति करने या उसके निवासियों को सुविधा पहुँचाने के लिये, ख़र्च कर सकती है।

---

* लेखक की 'भारतीय शासन' के आधार पर।

१९२५-२६ का अनुमानित व्यय (लाख रुपयों में)			
संख्या	मद	केंद्रीय सरकार	प्रांतीय स
१	कर वसूल करने का खर्च	५,२९	१०,९०
२	रेल	२८,६६	
३	आबकारी	१८	४,७६
४	ऋण का सूद	१८,१८	३,६५
५	शासन	१०,९८	१०,७८
६	न्याय-पुलीस और जेल		२२,०२
७	शिक्षा		१०,९४
८	स्वास्थ्य और चिकित्सा		५,०५
९	कृषि और उद्योग		२,७०
१०	अन्य विभाग		५६
११	सिविल निर्माण-कार्य	१,६८	८,०६
१२	सैनिक व्यय	६०,२६	
१३	विविध	४,७२	७, ७३
१४	केंद्रीय सरकार और प्रांतीय सरकारों की परस्पर में देनी		६, ४८
	योग	१,२९,९५	९३,

खर्च की मदों का ब्योरा—नं० १ में कर वसूल करने के
में आयात-निर्यात-कर, आय-कर, मालगुजारी, अदालतों
जंगल, रजिस्ट्री, अफ़ीम, नमक और आबकारी आदि विभा
कर्मचारियों के वेतन आदि के अतिरिक्त अफ़ीम और नमक
करने का ख़र्च भी सम्मिलित है।

२ और ३ नंबर के ख़र्च की मदों में इन मदों में लगी
पूँजी का सूद भी है।

१६२५-२६ ई० अनुमानित आय (लाख रुपयों में)			
संख्या	मद	केंद्रीय सरकार	प्रांतीय
१	आयात-निर्यात-कर	४६, ३५	
२	आय-कर	१७, ३५	२
३	नमक	६, ६५	
४	अफ़ीम	३, ५६	
५	मालगुज़ारी		३६, ३
६	आबकारी		१६, ७
७	स्टांप		१२, ६
८	रजिस्ट्री		१, २
६	अन्य आय	२, २३	३
१०	रेल	३२, ८६	
११	आबपाशी	१०	६, १
१२	जंगल		५, ३
१३	डाक और तार	६८	
१४	सूद की आय	३, ६०	२, १
१५	सिविल शासन	७३	३, ३
१६	मुद्रा-टकसाल और विनिमय	४, ०८	
१७	सिविल निर्माण-कार्य	१०	६
१८	सैनिक आय	४, ०१	
१९	विविध	८२	१, ६
२०	प्रांतीय सरकारों से लेनी	६, ४८	
	योग	१३०, ६३	६०,

उसमें सिर्फ़ १६। करोड़ रुपए का ख़र्च घटाने की सिफ़ारिश की गई है। उसका ब्योरा इस प्रकार है—

सेना में	१०॥	करोड़ रुपए
रेल में	४॥	,,
डाक और तार में	१।	,,
अन्य सिविल ख़र्चों में	३	,,
योग	१६।	करोड़ रुपए

किंतु दरिद्र भारत में इतना अधिक व्यय हो रहा है कि उपर्युक्त किफ़ायत बहुत कम है। कम-से-कम इससे तिगुनी किफ़ायत करने की आवश्यकता थी। परंतु विदेशी सरकार को इस बात की चिंता ही नहीं कि दरिद्र भारत टैक्सों के भार से कितना दबा जा रहा है। अस्तु, किफ़ायत-कमेटी का कार्य संतोष-प्रद नहीं कहा जा सकता।

सरकारी ऋण—जब सरकार इतना अधिक ख़र्च करती है कि करों के बढ़ाने पर भी यथेष्ट आय नहीं होती, तब उसे ऋण लेना पड़ता है। इसी कारण भारतीय शासन-व्यय बेहद बढ़ता गया है। पहले तो करों की मात्रा बढ़ाकर काम चलाया गया, साथ-ही-साथ ऋण की मात्रा भी क्रमशः बढ़ती गई। इधर, पिछले कुछ वर्षों से, हर साल आय से व्यय अधिक हुआ। आय की अपेक्षा १९१८-१९ में ६ करोड़, १९१९-२० में २४ करोड़, १९२०-२१ में २६ करोड़, १९२१-२२ में २८ करोड़ और १९२२-२३ में ६ करोड़ रुपए का अधिक व्यय हुआ। अतएव ऋण बढ़ता ही गया। बहुधा रेलों और नहरों के लिये भी ऋण लिया जाता है। महायुद्ध और उसके पूर्व भी कईएक लड़ाइयों के समय भारत की सीमा के बाहर भी, भारत के निमित्त (?), ख़र्च किया गया। इन सब बातों से ऋण की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई है।

आगे लिखे कोष्ठक से यह विदित हो जायगा कि सरकार पर किस-किस प्रकार का कितना-कितना ऋण है—

भारतवर्ष के सिर से यह ऋण-भार कब दूर होगा? कम-से-कम यह और तो न बढ़े। पर यह तभी हो सकता है, जब यहाँ शासन-व्यय—और विशेष कर सैनिक व्यय—कम किया जाय। क्या सरकार इसके लिये तैयार होगी?

कर-जाँच-समिति—सन् १६२४ ई० में सर चार्ल्स टॉड हंटर के सभापतित्व में एक समिति भारत की कर-संबंधी विविध बातों पर विचार करने के लिये बैठाई गई थी। उसमें ६ सदस्य थे, जिनमें चार भारतीय थे।

सन् १६२६ के प्रारंभ में इस समिति की भी रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। इसकी मुख्य-मुख्य सिफ़ारिशें निम्न लिखित हैं—

(१) मालगुज़ारी ज़मीन के वास्तविक लगान के २५ फ़ी सैकड़ा से अधिक न हो, और वास्तविक लगान का हिसाब लगाने में उत्पादन-व्यय, किसान और उसके कुटुंब के श्रम का प्रतिफल तथा उसके मुनाफ़े का पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिए।

(२) ज़िला-बोर्डों के लिये प्रांतिक सरकारें मालगुज़ारी के २५ फ़ी सैकड़े तक स्थानीय कर (Local rates) लगावें (आजकल भिन्न-भिन्न प्रांतों में प्रायः मालगुज़ारी का दस फ़ी सदी इस कर के रूप में लिया जाता है)।

(३) शराबों पर आयात-कर बढ़ाया जाना चाहिए।

(४) शक्कर, उद्योग-धंधों के लिये कच्चे पदार्थों और उत्पादन के साधनों पर आयात-कर कम करना चाहिए।

आयात-करों की दरों के संबंध में समय-समय पर जाँच की जानी चाहिए। इस समय इस काम के लिये एक समिति तुरत नियुक्त की जानी चाहिए।

(५) (क) कच्चे चमड़े के संबंध का निर्यात-कर हटा देना चाहिए।

अवसर । सेना और शासन आदि का जो भयंकर खर्च हमारे ऊपर लाद दिया जाय, उसे अस्वीकार करने का हममें बल नहीं । गोल्ड-स्टैंडर्ड-कोष के करोड़ों रुपयों के यहाँ रखने और उपयोग करने का हमें कोई हक़ नहीं । इस कारण अमीर देश पड़ने पर भी देश दरिद्र और दुखी है । वास्तव में उसे आर्थिक स्वराज्य की बड़ी आवश्यकता है । इसलिये समस्त भारत-संतान को मिलकर इसकी शीघ्र प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए ।

शब्दावली

लेखक का वक्तव्य

अर्थ-शास्त्र-शब्दावली का तैयार करना बड़ा कठिन, किंतु महत्त्व पूर्ण और आवश्यक है। कारण, यदि आवश्यक शब्द-भांडार हो, तो अर्थ-शास्त्र के लेखक का काम बहुत सुगम हो जाय। गत ११ वर्षों से, जब से हम राजनीतिक, शिक्षा-संबंधी और आर्थिक विषयों की पुस्तकें लिख रहे हैं, हम इस आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। इस पुस्तक को लिखते समय हमने यह विचार किया था कि एक वृहत् अर्थ-शास्त्र-शब्दावली (हिंदी से अँगरेज़ी और अँगरेज़ी से हिंदी) तैयार करके पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इसके लिये बहुत कुछ परिश्रम भी किया, और अब तक प्रकाशित विविध कोषों की एवं कई विद्वान् मित्रों की सहायता भी ली। पर उसमें अभी और परिश्रम तथा अन्य विद्वानों के परामर्श की आवश्यकता है। अतएव यहाँ उन्हीं थोड़े-से अँगरेज़ी-शब्दों के पर्यायवाची हिंदी-शब्द दिए हैं, जो इस पुस्तक में विशेष रूप से आए हैं। इस कार्य में नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के हिंदी वैज्ञानिक कोष और इंडियन इकॉनोमिक एसोसिएशन की हिंदी नामंवलेचर सब-कमेटी की एक छपी हुई सूची से सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त निम्न-लिखित सज्जनों ने भी इस कार्य में विशेष सहायता दी है—

१. श्रीस्वामी आनंदभिक्षुजी सरस्वती, ऑनरेरी जनरल मैनेजर, प्रेम महाविद्यालय, वृंदावन।

२. श्री० चिरंजीलालजी माहेश्वरी बी० ए०, कासगंज।

३. श्री० दयाशंकरजी दुबे एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, मंत्री, भारतीय अर्थ-शास्त्र-परिषद्, लखनऊ।

शब्दावली

Accounts.	हिसाब, लेखा
Administration.	शासन
Alternative demand.	वैकल्पिक माँग
Amalgamation of banks.	बैंकों का एकीकरण
Artificial coin.	बनावटी सिक्का
Auxiliary capital.	सहायक पूँजी
Balance of trade.	व्यापार की बाक़ी
Barter.	अदल-बदल
Bimetallism.	द्विधातु-चलन-पद्धति
Broker.	दलाल
Cadastral survey.	ज़िमवार पैमायश
Capitalist.	पूँजीपति
Central Government.	केंद्रीय सरकार
Charter.	अधिकार-पत्र
Circulating Capital.	चल-पूँजी
Circulation.	चलन
Classification.	वर्गीकरण
Cognisability.	पहचान का गुण
Comfort,—Articles of.	आराम की चीज़ें
Commerce.	वाणिज्य
Commodity.	पदार्थ या वस्तु
Communication.	व्यवहार

Economic.	आर्थिक
Economics.	अर्थ-शास्त्र
Efficient labour.	कुशल श्रम
Elasticity of demand.	माँग की लोच, माँग की घट-बढ़
Enterprise.	साहस
Enterprising.	साहसी, जोखिम का ज़िम्मा लेनेवाला
Exchange.	विनिमय
Excise duties.	आबकारी का कर, देशी माल पर कर
Existence,—Necessaries of.	जीवन-रक्षक पदार्थ
Experiment.	प्रयोग
Expert.	विशेषज्ञ
Exports.	निर्यात
Factor of production.	उत्पत्ति के अंग
Factory.	कारख़ाना, फ़ैक्टरी
Fiscal.	कोष-संबंधी, आर्थिक
Fixed Capital.	नियत पूँजी
Forced labour.	बेगार
Free trade.	मुक्तद्वार-व्यापार
Fund,—Reserve.	बचत-कोष, रिज़र्व फंड
Gold Exchange standard.	स्वर्ण-विनिमय-स्टैंडर्ड, स्वर्ण-विनिमय-मुद्रा-चलन-प्रणाली
Gold standard, reserve.	मुद्रा-रक्षार्थ स्वर्ण-कोष, स्वर्ण-स्टैंडर्ड-कोष

rket.	बाज़ार
rket,—Occasional.	हाट, पैंठ
„ ,—Money.	सराफ़ा
aximum.	अधिकतम
eans of subsistence.	निर्वाह के साधन
edium of exchange.	विनिमय का माध्यम
ddle-man.	दलाल, मध्यस्थ
neral product.	खनिज पदार्थ
inimum.	न्यूनतम
ntage.	टकसाली महसूल
int par.	टकसाली दर
oney.	मुद्रा, रुपया-पैसा
ono-Metallism.	एकधातुवाद
orality.	सदाचार
ation.	राष्ट्र
et income	खरी आय
ct rent.	आर्थिक लगान
o-rent-land.	बे-लगान ज़मीन
ccupancy right.	मौरूसी हक़
rganisation.	संगठन
aper Currency.	काग़ज़ी मुद्रा
aper money.	काग़ज़ी रुपया
easant proprietor.	स्वत्व-काश्तकार
ermanent settlement.	स्थायी बंदोबस्त
opulation,—Growth of.	जनसंख्या-वृद्धि

Market.	बाज़ार
Market,—Occasional.	हाट, पैंठ
„ ,—Money.	सराफ़ा
Maximum.	अधिकतम
Means of subsistence.	निर्वाह के साधन
Medium of exchange.	विनिमय का माध्यम
Middle-man.	दलाल, मध्यस्थ
Mineral product.	खनिज पदार्थ
Minimum.	न्यूनतम
Mintage.	टकसाली महसूल
Mint par.	टकसाली दर
Money.	मुद्रा, रुपया पैसा
Mono-Metallism.	एकधातुवाद
Morality.	सदाचार
Nation.	राष्ट्र
Net income	खरी आय
Net rent.	वास्तविक लगान
No-rent-land.	बेलगान ज़मीन
Occupancy right.	मौरूसी हक़
Organisation.	संगठन
Paper Currency.	कागज़ी मुद्रा
Paper money.	कागज़ी रुपया
Peasant proprietor.	कृषक-स्वामी
Permanent settlement.	स्थायी बंदोबस्त
Population,,—Growth of.	जनसंख्या-वृद्धि